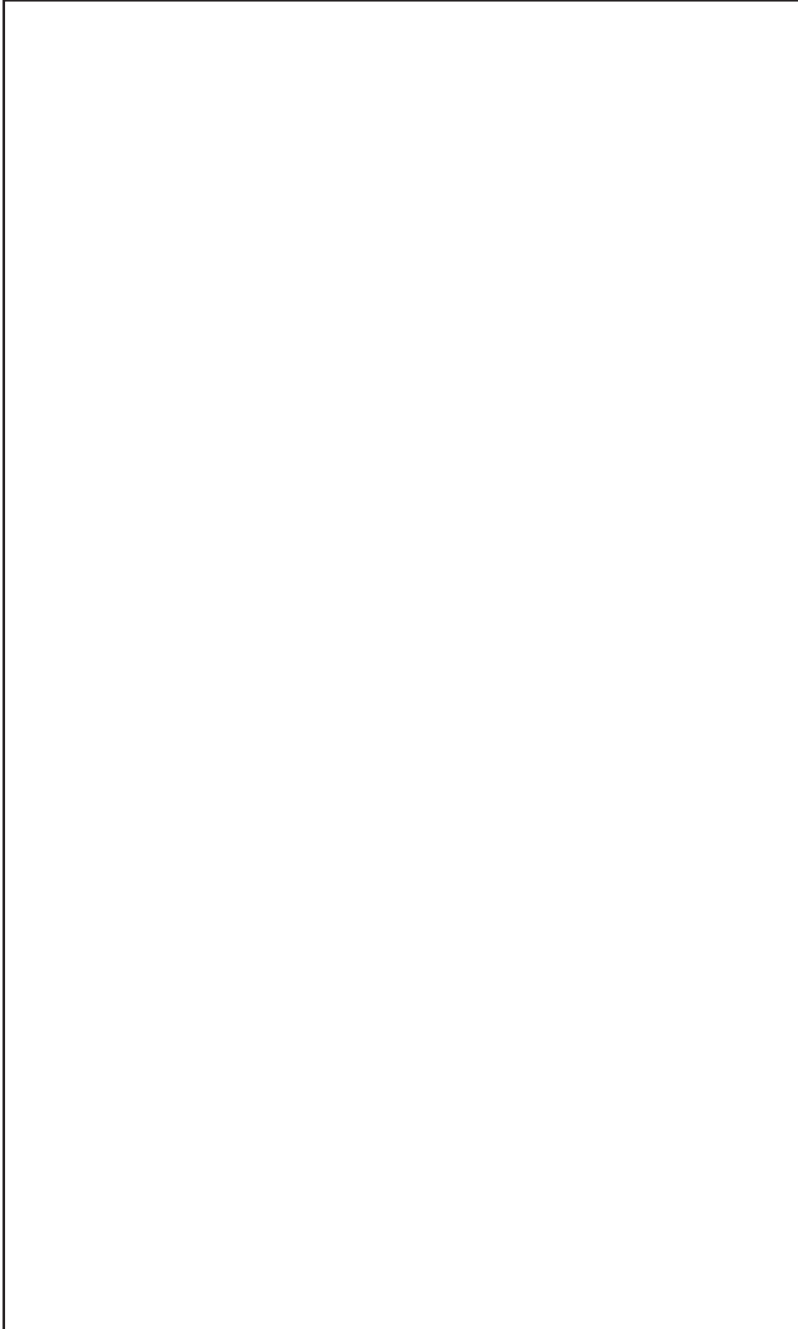


आलोचना की शुरुआत

चंचल चौहान

सुमित प्रकाशन

द्वितीय दत्त, 94, मानक विहार, दिल्ली— 110092



आलोचना की शुरुआत

चंचल चौहान

सुमित प्रकाशन

ISBN : 81-902238-6-0
© : चंचल चौहान
प्रकाशक : सुमित प्रकाशन
 दितीय दत्त, 94, मानक विहार,
 दिल्ली 110092
संस्करण : 2008
मूल्य : 525.00 रु.
मुद्रक :

AALOCHNAA KI SHURUAAT (CRITICISM)

भूमिका

आज के उत्तरआधुनिकतावादी दौर में जहां 'अंत, अंत' की प्रलयछाया पश्चिम में और हमारे यहां भी खूब दिखायी दे रही हो, वहां वित्तीय पूंजी के फलसफे का प्रतिरोध 'शुरुआत' से हो सकता है। इसीलिए, अपने शुरुआती आलोचना लेखन को पाठकों के सामने लाना, इतने दिनों के बाद, ज़रूरी लगा। 'आधुनिकतावाद' से पिछली सदी के सत्तर के दशक में विचारधारात्मक संघर्ष करके ही हमारी इस तरह की आलोचना की शुरुआत हुई थी, आज के दौर में 'उत्तरआधुनिकतावाद' की विचार धारा से मुठभेड़ के लिए उस दौर के वैचारिक संघर्ष हमें उसी तरह शक्ति देते हैं जैसे मुक्तिबोध के लेखन ने 'अस्मिताखोजी' आधुनिकतावादियों की रचनाओं के वर्गीय सारतत्व की व्याख्या के लिए हमें ताकत दी थी। इन लेखों के पीछे एक विकासशील पर्सपेक्टिव था, जो पुरानी मान्यताओं से, खुद बहुत सी प्रगतिवादी मान्यताओं से, टकरा रहा था। इसी अर्थ में यह नया उभार एक नयी शुरुआत था।

इन लेखों में से ज्यादातर उस दौर की लघु पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। बहुत सी पत्रिकाएं जिनमें लेख छपे थे मेरे पास मिल गयीं, बहुत सी पत्रिकाएं तो नहीं मिलीं, उन लेखों की प्रतिलिपि सुरक्षित बनी रही, इसलिए कुछ के अंत में 'संभावित रचनाकाल' लिखना पड़ा, जो पत्रिका मिल गयी, उसका नाम व वर्ष आदि दे दिया है जिससे इस विकासक्रम को सही संदर्भ में देखा जा सके। चूंकि दो दशकों 1970-1980 के बाद के अपने आलोचना-लेखन में से कुछ चुन हुए लेख ही देना यहां संभव था, उन्हीं को एक पर्सपेक्टिव के तहत दिया है, जिससे हमारी आलोचना की और नये जनवादी उभार की एक तस्वीर पाठकों के सामने आ सके। सिर्फ आचार्यत्व की मुद्रा ओढ़कर सिद्धांत प्रतिपादन इस आलोचना का मंतव्य नहीं था, बल्कि उस दौर की आलोचना की शुरुआत व्यावहारिक समीक्षा से ही हुई थी, इसलिए इस संग्रह में छोटे-बड़े व्यावहारिक समीक्षा-लेख भी सम्मिलित हैं, जिससे हिंदी आलोचना की नयी शुरुआत की विशेषताओं (और सीमाओं) का हिंदी के साहित्य प्रेमियों और उभरते रचनाकारों और आलोचकों को पता लग सकेगा। इन लेखों में

उस दौर का कुछ 'प्रखर' स्वर भी शायद झलकेगा ही, उसे अन्यथा न लेकर उस दौर के खाते में ही डाल दें। यों तो, एफ. आर. लीविस के अनुसार हर आलोचना 'निजगत' होती है, या फिर कुछ नहीं होती। मगर अपने इस 'निजगत' में एक आंदोलन शरीक था, जिसने लिखने के प्रेरित किया था सो इसमें जो अच्छा-अच्छा है, वह उसी की प्रेरणा से किये गये चिंतन का है, जो निषेधात्मक है, वह मेरा 'निजगत' है, उसे मेरी उस दौर की सीमा मान कर अनदेखा कर दें।

मेरे प्रिय मित्र रामशरण जोशी के लगभग दैनिक 'आदेश' से मैंने पुरानी पत्रिकाओं से लेख इकट्ठा किये, तो उनकी तादाद इतनी हो गयी कि तीन पुस्तकें हो जातीं, अतः उनमें से चुनाव करना पड़ा और जोशी जी के आदेश का इस तरह पालन हो गया, अब यह 'शुरुआत' आपके सामने है। इसके लिए जोशी जी के प्रति आभार व्यक्त करना ज़रूरी है। प्रकाशक, प्रवीण खुराना उन्हीं के दोस्त हैं, उनके लगातार आग्रह से यह संकलन पुस्तक रूप में आ सका, इसलिए उन्हें भी धन्यवाद देना ज़रूरी है। अंत में, जलेस कार्यालय सहायक प्रमोद को धन्यवाद देना ज़रूरी है, जिन्होंने मेरे इस काम में कम्प्यूटर पर और कार्यालय में साथ लगकर मदद की है।

चंचल चौहान

26 जनवरी, 2008

अनुक्रम :

विचार, चिंतन और चिंतक

विचारधारा और साहित्य : वस्तु और रूप के संदर्भ में	11
अंतर्वस्तु व रूप : रूपवाद और सौंदर्यवाद	18
सामाजिक संदर्भ और लेखकीय दायित्व	27
आलोचना : आज की हालत	39
नौवें दशक के पूर्वार्द्ध में सांस्कृतिक साहित्यिक गत्यावरोध	50
समकालीन लेखन : दशा और दिशा	56
यथार्थ पर विचार	61
उत्तरआधुनिकता : प्रेतों की वापसी	69
रचनाकर्म की विफलता का सवाल	80
बोलचाल की ज़बान की अहमियत	85
जनवाद और सेक्स	90
स्वायत्तता के परिप्रेक्ष्य का सवाल	95
व्यावसायिक पत्रपत्रिकाओं का चरित्र	102
साहित्य और समाज	108
ज्यार्ज लुकाच: एक महान चिंतक और सौंदर्यशास्त्री	115
लू शुन: एक अमर जनवादी साहित्यकार	120

कविताई पर विचार

राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन और कविता	131
राष्ट्रीय स्वाधीनता : निराला काव्य का वैचारिक आधार	139
रघुवीर सहाय : सामाजिक न्याय और बराबरी के मूल्यों के कवि	154
समकालीन हिंदी कविता की परख	170
इब्बार रब्बी का 'घोषणापत्र'	175
रमेश रंजक का दरिया का पानी	176
श्रीहर्ष का राजा की सवारी	183
अशोक चक्रधर का सो तो है	186

सोहन शर्मा का संग्रह: अपनी जगह पर	187
नाखून उखड़ने की रात	187
अस्तित्वखोजी कविताओं का 'होना शुरू होना'	190
नर्मला गर्ग की कविताएं	193

कहानी पर कुछ विचार

हिंदी में कहानी समीक्षा का विकास
 हिंदी कहानी : यथार्थवाद के विविध आयाम
 प्रगतिशील कथा-साहित्य के मूल्यांकन का परिप्रेक्ष्य
 आज़ादी के पचास वर्ष और हिंदी कहानी
 नौवें दशक की हिंदी कहानी : शिल्पगत बदलाव
 समकालीन कथा साहित्य : मूल्यांकन का परिप्रेक्ष्य
 हिंदी कथा साहित्य : अतीतोन्मुखता का दबाव
 जादुई यथार्थवाद की अवधारणा
 नौवें दशक की हिंदी कहानी
 मन्नू भंडारी की कहानियां
 'सूखा' के बहाने आज की कहानी पर बहस
 अस्वीकृति के दृष्टिकोण की कहानियां
 कसाईबाड़ा : विद्रूप का अतिवाद
 ताला बंद है की कहानियां
 शिवलिंगम् तथा अन्य कहानियां
 जादुई यथार्थवाद का एक कहानीकार
 असगर वजाहत का 'दिल्ली पहुंचना है'
 इसराइल का रोज़नामचा
 सही नज़रिये से प्रेमचंद साहित्य की परख

कुछ नाटक पर भी

भारतीय राष्ट्रवाद का उदय और भारतेंदु के नाटक
 लहरों के राजहंस: सोच और अनिश्चय की त्रासदी

विचार, चिंतन और चिंतक

हमने जो तर्जें फुगां की है कफ़स में ईजाद
 फ़ैज़ गुलशन में वही तर्जें बयां ठहरी है

--फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

विचारधारा और साहित्य : वस्तु और रूप के संदर्भ में

वस्तु और रूप के संदर्भ में जब हम विचारधारा और साहित्य के आपसी रिश्ते पर विचार करते हैं तो हमारे लिए यह समझना ज़रूरी हो जाता है कि वस्तु और रूप से हमारा आशय क्या है। दुनिया में हमारे सामने जो कुछ भी मौजूद है उसे मोटे तौर पर पदार्थ और मन यानी 'मैटर' तथा 'माइंड' की शकल में विभाजित कर लेते हैं यानी एक दुनिया भौतिकजगत है और एक मनोजगत। इन दोनों तरह की दुनियाओं में जो कुछ है उसे समझने और उसकी पहचान करने लिए विचारकों ने दो श्रेणियां बनायी हैं जिन्हें हम वस्तु यानी कंटेंट और रूप यानी फ़ार्म के नाम से पुकारते हैं। ये श्रेणियां कपोकल्पित चीज़ नहीं हैं, वे किसी वस्तु, दृश्य, व्यवस्था, विचार और ज्ञान का अविभाज्य हिस्सा हैं, इसलिए वास्तविक हैं। किसी कलाकृति को भी हम जब देखते परखते हैं तो उसको उसके बाहरी रूप, उसकी सज्जा उसके आकार प्रकार को और फिर उसके अंदर के तत्व और सार को उसके भीतर निहित अर्थ को और उसकी वस्तु को देखते परखते हैं। साहित्य में जब हम इस तरह की बात करते हैं कि किसी कृति में क्या कहा गया है तो हम उसकी वस्तु की बात कर रहे होते हैं और जब हम यह कहते हैं कि कैसे कहा गया है तो हमारा ध्यान उसके रूप पर होता है। मगर यह बात भी ध्यान में रखने की है कि इन्हें अलग-अलग श्रेणीबद्ध करते हुए भी एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इसी को हम यों भी कहते हैं कि वस्तु और रूप में द्वंदात्मक रिश्ता होता है, इसको सरल भाषा में कहें तो यह कह सकते हैं कि वस्तु और रूप एक दूसरे से जुड़े हुए भी होते हैं और उनकी अपनी-अपनी सापेक्ष स्वतंत्रता भी होती है, यानी उनमें एकता भी होती है और उनमें

परस्पर-विरोध भी होता है, वे दोनों ही अनेक संबंधों और अंतःक्रियाओं के परिणाम होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी भी साहित्यिक कृति के जांचने परखने या उसकी रचना प्रक्रिया को समझने में रूप और वस्तु संबंधी सिद्धांत हमारे मददगार साबित होते हैं।

दुनिया भर में रूप और वस्तु के संबंधों का लेकर एक बहस छिड़ी रही है और हिंदी सहित्य में भी यह बहस चलती रही है। साहित्यकारों का एक हिस्सा इस बात पर अड़ा रहा है कि साहित्य में रूप ही सब कुछ होता है, अमेरिका का एक आलोचक, मैक्लुहान, कहता है कि फार्म ही कंटेंट है। उनके लिए महत्वपूर्ण यह नहीं है कि क्या कहा गया है, महत्वपूर्ण यह है कि कैसे कहा गया है। इस एकांगी समझ को हम रूपवादी समझ कहते हैं और हम इस समझ को सतही मानते हैं, क्योंकि यह मिथ्या-चेतना पर आधारित है। साहित्यकारों का दूसरा हिस्सा, जो वस्तु और रूप के द्वंदात्मक रिश्ते को मानता है तथा इन दोनों के अनेक अतःसंबंधों की जांच पड़ताल पर बल देता है, वैज्ञानिक और तर्कसंगत है। रूपवादी खेमे के साहित्यकार साहित्यिक कृति के अनेक अतःसंबंधों जैसे सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, सौंदर्यशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक आदि को नहीं मानते वे तो सिर्फ पेज पर अंकित कृति को ही मानते हैं। साहित्यिक कृति की सर्वस्वतंत्र सत्ता में वे विश्वास करते हैं और कृति को स्वयं कृतिकार तक से जोड़कर देखना पसंद नहीं करते। उनके लिए 'काव्य सिर्फ शब्द है' या सिर्फ भाषिक संरचना है। हमारे यहां नयी कविता आंदोलन के अनेक कवि और अनेक रूपवादी आलोचक इस मिथ्या चेतना के शिकार रहे और अशोक वाजपेयी जैसे लोग आज भी कृति की सर्वस्वतंत्र सत्ता का फूटा ढोल पीट रहे हैं।

दर असल, वस्तु और रूप को देखने के इन दो नज़रियों के बीच की लड़ाई का आधार विचारधारात्मक है। यहीं से हम विचारधारा और साहित्य के आपसी रिश्ते को भी समझने में कामयाब हो सकते हैं। किसी भी साहित्यिक कृति को विश्लेषित करने में जब हमारा ध्यान उसके रूप तत्व और वस्तु तत्व पर जाता है तब हम उस कृति के संबंध में यह भी सोचते हैं कि यह कृति कौन से विचार, कौन से संवेदन, कौन से नैतिक, सामाजिक और सौंदर्यशास्त्रीय मूल्य हमें दे रही है, किस कथ्य को हम

तक पहुंचा रही है। कृति के विश्लेषण से कृति के सामाजिक महत्व और कृति के जटिल रूप के भीतर छिपी उसकी आत्मा का दर्शन होता है। यह आत्मा अनेक तरह के विचारों से मिलकर बनी होती है जिनके पीछे रचनात्मकता का एक ऐसा नज़रिया काम कर रहा होता है जिसे हम विश्वदृष्टि कहते हैं जिससे वह जीवन और जगत को व्याख्यायित करता है, हर आदमी सृष्टि के बारे में, जीवन के बारे में और अपनी दुनिया के बारे में इसी दृष्टि के सहारे अपने विचार रखता है। इसलिए हर आदमी किसी न किसी विचारधारा को आत्मसात् किये हुए होता है जो वह अपने समाज से ग्रहण करता है। सोवियत विचारक एन वी बीक्केनिन के शब्दों में 'ऐवरी ह्यूमन बीइंग इज़ फ़ार मोर 'आइडियोलोजिकल' देन ही मे रियलाइज़'। उनका कहना था कि समाज के विकास के बारे में हर एक अवधारणा शुरू से आखिर तक विचारधारात्मक होती है, भले ही कोई यह दावा करे कि उसे किसी विचारधारा से कोई लेना-देना नहीं (सोशलिस्ट आइडियोलोजी, अंग्रेजी सं. 1978, पृ. 6)

मनुष्य ने अपने भौतिक जीवन के विकास के दौरान ही विचारधारा का भी विकास किया है। प्रकृति के रहस्यों को उसने जानने की कोशिश की है और धीरे-धीरे मिथ्या चेतना को त्यागते हुए वैज्ञानिक सत्यों को अपनाया है। सत्यों की यह तलाश उसने अपने सामाजिक और ऐतिहासिक विकास के दौरान की है। इस विकास के दौर में ही मानव समाज ने यह जाना कि विचारधारा भी कोई चीज़ होती है। इसी विकास के दौरान उसे यह पता लगा कि मानव समाज का इतिहास दो वर्गों यानी शोषकवर्ग और शोषितवर्ग के बीच संघर्ष का इतिहास रहा है और इस संघर्ष के मूल को भी उसने पहचाना। समाज के तर्कसंगत और वैज्ञानिक इतिहास से यह भी सिद्ध हुआ कि विचारधारा भी वर्गीय होती है और वर्गों की विचारधाराओं में भी टकराव होता है। शोषको और निजी संपत्ति के मालिकों की विचारधारा में सत्य का अंश उसी हद तक रहता है जब तक उससे उनका हित साधन होता है। जहां जहां सत्य से उनका हितों की पूर्ति नहीं होती, वे मिथ्या चेतना फैलाने में अपनी पूरी ताकत का इस्तेमाल करते हैं। शोषित मानव और वर्गसमाज के भीतर समाज को आगे ले जाने वाले वर्ग इस मिथ्या चेतना से संघर्ष करते हैं और इसी के

दौरान वैज्ञानिक सत्तों की कड़ी भी आगे बढ़ती है और मिथ्या विचारधारा की जगह वैज्ञानिक विचारधारा का विकास होता जाता है। उन्नीसवीं सदी में विचारधारा की इस वर्गीय प्रकृति का खुलासा मार्क्सवाद के संस्थापकों-मार्क्स और एंगेल्स- ने किया। आज यह वर्गीय प्रकृति हमें और भी स्पष्ट रूप में दिखायी पड़ रही है क्योंकि विश्वपूँजीवाद अपने अपने वहशी दौर में हर तरह की मिथ्याचेतना फैलाकर शोषित वर्गों और पिछड़े हुए देशों पर कब्जा करके और विश्वमंडी को अपने अधिकार में करके खुद को जिंदा बनाये रखने की ताबड़तोड़ कोशिश कर रहा है। हताशा के इस दौर में वह जगह जगह युद्ध छेड़कर समूची मानव जाति तक के लिए खतरा पैदा कर देने में लगा हुआ है। अज्ञान का अंधकार शोषित जन के लिए घातक और शोषकों के लिए अमृत है। इसीलिए अमरीकी साम्राज्यवादी हमारे समाज में भी पूँजीवाद से पहले के अवशेषों को पुनर्जीवित करने वाले तत्वों और जाति, धर्म, संप्रदाय आदि की मिथ्याचेता ना फैलाने और अवाम को 'हरे राम हरे कृष्ण' का जाप कराते रहने का भरपूर प्रयास कर रहे हैं और इस तरह के विचारों को फैलाने वाली देशी ताकतों को शह दे रहे हैं।

समाज में चल रही इस लड़ाई से साहित्य भी अछूता नहीं है। जब मार्शल मैक्लूहान कहता है कि फार्म ही कंटेंट है या अज्ञेय कहते हैं काव्य सबसे पहले शब्द है और अंत में भी यही बात रह जाती है, या जब अमरीका के नये समीक्षक और अनेक शैलीवैज्ञानिक और संरचनावादी तथा शब्दविज्ञानवादी साहित्य की सर्वस्वतंत्र सत्ता का ढोल पीटते हैं या 'पोइम आन द पेज' की वकालत करते हैं और इन्हीं सियारों की 'हो हो', करने वाले हिंदी के कुछ नये आलोचक इन्हीं के विचारों से हिंदी आलोचना की क्षतिपूर्ति करने का उपकार जता रहे होते हैं, तो वे भी विचारधारा की इस लड़ाई में शोषकवर्गों की पक्षधरता कर रहे होते हैं।

जहां यह सही है कि समाज में रहने वाला कोई मनुष्य अपने विचारों को व्यक्त करते वक्त विचारधारा जो कि अंततोगत्वा वर्गीय हित साधन करने वाली होती है को ही किसी न किसी रूप में व्यक्त कर रहा होता है वहां यह भी होता है कि कई बार वह परस्परविरोधी विचारधाराओं को गड्डमड्ड करके भी अपने विचार संप्रेषित करता है और यह ज़रूरी नहीं

कि किसी वर्गविशेष का सदस्य अपने ही वर्ग की विचारधारा को व्यक्त कर रहा हो। ज़्यादातर जिन वर्गों का प्रभुत्व उत्पादन के साधनों पर होता है, उनकी ही विचारधारा का भी प्रभुत्व समाज में होता है और यह प्रभुत्व और विरोधी विचारधारा की मौजूदगी की टक्कर भी होती है जिसके कारण वर्गसमाजों के रचनाकारों में अंतर्विरोधी विचार घुले मिले रहते हैं।

विचारधारा रचना में ज़रूर होती है, मगर विचारधारा को रचना का स्थानापन्न नहीं बनाया जा सकता। साहित्यिक कृतियों के वस्तु और रूप पर विचार करते वक्त और उसकी रचना प्रकृति का विश्लेषण करते वक्त हमें यह बात ज़रूर उठानी चाहिए कि लेखक कहीं विचारधारा को ही तो सपाट ढंग से रचनाबद्ध नहीं कर रहे हैं। हिंदी में 1970 के बाद के सालों में जो जनवादी साहित्य का उभार आया, उसकी बहुत सारी रचनाओं में विचारधारा की घोषणा जम कर हुई है। ज़्यादातर लेखकों ने पाठक को यह बार-बार बताने की कोशिश की है कि मैं जनवादी हूँ, मुझे जनवादी मान लो, मेरी विचारधारा जनवादी है, मुझे प्रतिक्रियावादी न कह देना। इस चक्कर में रचनाओं के कुछ फार्मूले बन गये। जिस तरह नयी कविता के भीतर के अस्तित्ववादी कवियों ने या नयी कहानी के भीतर के आधुनिकतावादी कहानीकारों ने कुछ फार्मूले बना लिये थे कि कहीं न कहीं एक दो कड़छी अजनबीपन, अकेलापन, खालीपन डाल देना है और एक दो कड़छी 'मैं हूँ' या 'मैं हो रहा हूँ' का छौंक लगा देना है, बस नयी कविता या नयी कहानी का नया माल तैयार हो जायेगा। उसी तरह जनवादी आंदोलन के दौर की जनवादी कविता और कहानी में भी इस तरह का फार्मूलापन आ गया। आशाजनक बात यह रही कि बाद में बहुत से रचनाकारों ने इस अवरोध को पहचाना जोकि विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया है। बहुत से रचनाकारों ने सजगता से विचारधारा को साहित्य के वस्तु और रूप में पूरी कलात्मक क्षमता से पिरोने में सफलता हासिल की।

विचारधारा को सीधे-सीधे उगल देने की बीमारी से बचने के लिए ज़रूरी है कि विभिन्न विधाओं को लेकर हम उनकी रचना प्रक्रिया पर वर्कशाप आयोजित करें। हम इन सवालों पर गंभीरता से विचार करें कि किसी विशेष विधा के कौन से ऐसे तत्व होते हैं जो उसे विधा का खिताब

देते हैं, कौन से ऐसे तत्व हैं जिनमें रचनाकार अपनी रचनात्मक आज़ादी का इस्तेमाल कर सकता है। इन विधाओं में नवोन्मेष और आकर्षक रूपों की कौन सी सभावनाएं हैं। इन तमाम सवालों को मद्देनज़र रखकर अगर लेखक संगठन विभिन्न स्थानों पर वर्कशाप आयोजित करें तो नये लेखकों की रचनाशीलता में व्याप्त अपरिपक्वता की पहचान भी हो सकती है और विचारधारा और साहित्य के द्वंद्वात्मक रिश्ते की समझ भी इस तरह की वर्कशापों से ही ज़्यादा कारगर तरीके से विकसित की जा सकती है। सिद्धांत के स्तर पर हम सभी कहते रहते हैं कि विचारधारा को किसी साहित्यिक कृति में अनूदित कर देना कलासृजन नहीं माना जा सकता, मगर रचनाकर्म में विचारधारा बार-बार अपने-अपने शुद्ध रूप में आकर शार्टकट प्रदान करती रहती है। कला सृजन तो ऐसे बिंबों की या चित्रों की रचना का नाम है जिसमें तमाम सौंदर्यशास्त्रीय, नैतिक और संवेदनात्मक तारों को झंकृत कर देने शक्ति भर दी गयी हो और इस झंकार में ही हमारे विचारधारात्मक मूल्य गूँज रहे हों। व्यक्तिवादी या अस्मिता की खोज करते या जनवाद का विरोध करने वाले रचनाकार अपनी विचारधारा को शिल्प की तमाम बारीकियों के साथ ही पेश करने को मजबूर हैं क्योंकि वे खुल्लमखुल्ला यह कहने की जुरत नहीं कर सकते कि उन्हें भीड़ से, अवाम से नफ़रत है क्योंकि उनमें उनकी कला की परख की तमीज़ नहीं। इसलिए अपनी व्यक्तिवादी विचारधारा को व्यक्त करने के लिए अज्ञेय की तरह 'उछली हुई मछली' का बिंब तलाश किया जायेगा, 'एक बूंद सहसा उछली' की तरह खुद के उछलने की तड़प चित्रित की जायेगी, या डब्ल्यू बी येट्स की तरह 'पर्गेटरी' की फैंटेसी रचकर जनवाद के सोलह साल के बच्चे की हत्या कराकर अपना जनवादविरोधी अंतर्निहित रुझान संप्रेषित किया जायेगा।

जनवादी रचनाकार अपनी विचारधारा पर नाज़ करता है, वह उसे छिपाता नहीं कि वह शोषित वर्गों के साथ है, वह सर्वहारा है या सर्वहारा का दोस्त है। उसे अपनी पक्षधरता छिपाने की ज़रूरत महसूस नहीं होती। वह तो पूरे ज़ोर से चिल्लाना चाहता है कि दुनिया के मज़दूरो एक हो, खोने के लिए जंजीरों के सिवा कुछ नहीं और पाने को सारी दुनिया है। यह बात वह इन बिंबों के अलावा और नये बिंबों, और अधिक

सशक्त बिंबों में कहने की मशक्कत जब नहीं करता तो उसका रचनाकर्म कला की सापेक्ष स्वायत्तता की अवहेलना कर रहा होता है और उसके सौंदर्यशास्त्रीय नियमों का उल्लंघन भी। इसी वजह से ऐसी रचनाएं किसी भी पाठक को प्रभावित नहीं करतीं और न ही किसी तरह की संवेदना जगाती हैं। विचारधारा और साहित्य के बीच की रचना प्रक्रिया की कई तर्हों, मेरे खयाल से कला के तीन क्षणों से भी ज़्यादा तर्हों, को भुलाकर सीधे-सीधे विचारधारा परोस देना रचनाकर्म को लचर बनाता है। और विचारधारात्मक संघर्ष में भी बहुत बड़ा योगदान नहीं करता।

अंतर्वस्तु व रूप : रूपवाद और सौंदर्यवाद

यथार्थ जगत् की हर चीज़ के दो पहलू होते हैं : एक अंतर्वस्तु और दूसरा रूप जो एक दूसरे से अलग नहीं होते। यह अवधारणापरक (और वास्तविक भी) विभाजन विश्लेषण-संश्लेषण के तरीके द्वारा वस्तुओं की सच्चाई को समग्रता में जानने के लिए किया गया है।

‘अंतर्वस्तु’ का क्या मतलब है? ‘फंडामेंटल्स ऑफ़ मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट फिलॉसफी’ में कहा गया है कि ‘अंतर्वस्तु का अर्थ है किसी वस्तु के सभी तत्व, आनुपातिक एकता, आंतरिक प्रक्रिया, संबंध, अंतर्वरोध और विकास का रुख।

‘रूप’ का क्या अर्थ है? इसे यों परिभाषित किया गया है: ‘रूप’ का अर्थ है अंतर्वस्तु की बाह्य अभिव्यक्ति का साधन, अंतर्वस्तु के तत्वों के संबंध की आपेक्षतया स्थिर निश्चितता और अंतर्वस्तु से अंतःक्रिया, भेद और उसकी संरचना।’

मनुष्य सभ्यता के प्रारंभ से ही वस्तु जगत् के रहस्यों को जानने की लगातार कोशिश करता आया है। ज्ञान विज्ञान के विपुल भंडार इस कोशिश के साक्ष्य हैं। यदि हम ग्रीक दर्शन या भारत के वैदिक व उपनिषदिक साहित्य को गहराई से देखें तो पता लगेगा कि मनुष्य के लिए पदार्थ व उसकी गति प्रमुख चिंतन के विषय रहे हैं। आदि मानव अपने चारों ओर फैले अनंत वस्तु जगत् के बारे में रहस्याकुल था। ग्रीक दर्शन का सर्व प्रथम जाना गया दार्शनिक थेल्स सबसे पहले पृथ्वी की रचना पर ही ध्यान केंद्रित करता है। वह कहता है कि पृथ्वी का जन्म जल से हुआ। बाद में अनेक्सीमेंडर ने कहा कि सृष्टि का जन्म ‘अपरिचित वस्तुसमूह से हुआ।’ यह थी शुरू के मनुष्य की मामूली खोज। भारत में भी, ऋग्वेद (मण्डल 10/10/121) में सृष्टि को ‘हिरण्यगर्भ’: यानी पहले से व्याप्त

पदार्थ से उत्पन्न माना गया। किसी अन्य ऋषि ने सृष्टि के कर्ता को ‘सहस्रादशीर्ष’ पुरुष की संज्ञा दी। उपनिषदों में सृष्टि की जननी ‘प्रज्ञा’ बन गयी जिस तरह बाद में ग्रीक दर्शन में भी ‘नाउस’ (चेतन सत्ता) को सृष्टि का उद्भवकर्ता मान लिया गया। इस तरह संसार में सृष्टि को लेकर दो विरोधी विचारों का जन्म हुआ। एक दृष्टि भौतिकवादी कहलायी और दूसरी भाववादी।

ग्रीक दर्शन में भाववाद की दृढ़ स्थापना प्लेटो ने की और अरस्तू ने भौतिकवाद को आगे बढ़ाया। इस तरह इन दो विरोधी विश्वदृष्टियों का संघर्ष हमें हर देश व काल में मिलता है। भाववाद ने भाव (*Idea*) को ही सत्य माना और भौतिक जगत् को मिथ्या करार दिया तथा भौतिकवाद ने प्रकृति व पदार्थ की सत्ता को ही यथार्थ माना।

अंतर्वस्तु और रूप के बारे में भी हमें दो दृष्टियां मिलती हैं। एक दृष्टि अंतर्वस्तु को ही प्रमुख मानती है, तो दूसरी नाम, रूप, गुण को। ‘ब्रह्म रामु ते नाम बड़’। भाववादी रूप को ही सत्य मानते हैं क्योंकि भाव भी रूप ही है। हमारे यहां ‘घट और पट’ के उदाहरणों से सांख्य आदि दर्शनों में अंतर्वस्तु और रूप को लेकर काफी विवाद हुआ है, किंतु भौतिक विकास के अभाव में वे अपने युग की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सके। अतः गुल्थी अनसुलझी ही रही। अंतर्वस्तु और रूप के रिश्ते को सही वैज्ञानिक ढंग से विश्व में औद्योगिक क्रांति के बाद ही समझा जा सका। सर्वाधिक तर्कसंगत ज्ञान, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद व ऐतिहासिक भौतिकवाद, के अनुसंधान द्वारा ही मनुष्य को यह विश्वदृष्टि मिली जिससे जीवन जगत् के सभी पहलुओं को उनकी समग्र सच्चाई में व्याख्यायित किया जा सका है। इसी ज्ञान को हम मार्क्सवाद-लेनिनिवाद के नाम से जानते हैं।

इस ज्ञान के अनुसार ‘रूप’ और अंतर्वस्तु किसी चीज़ के पहलुओं के बीच एक ऐसा नाता जोड़ते हैं जो भिन्न ही नहीं एक दूसरे का विरोधी होता है। रूप और अंतर्वस्तु का विभाजन उनकी अविभाज्य एकता के ढांचे में ही रहता है और उनकी एकता एक आंतरिक विभाजन में ही होती है” (फंडा. आफ़ मा. ले. फिलासफी)। इससे स्पष्ट है कि अंतर्वस्तु और रूप के बीच में कोई भयंकर खाई नहीं होती। दोनों में अंतःसंबंध और अंतःक्रिया भी होती है। उदाहरण के लिए, कोई विचार किसी ठोस यथार्थ

का रूप हो सकता है तो किसी कविता की अंतर्वस्तु भी। रूप कोई बाहर से थोपी गयी चीज़ नहीं जिसे अंतर्वस्तु के ऊपर ओढ़ा दिया गया हो।

रूप और अंतर्वस्तु के इसी रिश्ते को हम द्वंद्वात्मक रिश्ता कहते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि अंतर्वस्तु और रूप में विरुद्धों की एकता व संघर्ष होता है। द्वंद्वात्मकता के तत्वों को गिनाते हुए लेनिन ने लिखा था: 'जिस तरह अंतर्वस्तु और रूप में संघर्ष होता है वैसे ही उनमें अन्विति या एकता भी होती है।' रूपरहित कोई अंतर्वस्तु नहीं होती और अंतर्वस्तु रहित कोई रूप नहीं होता। अंतर्वस्तु और रूप के इस द्वंद्वात्मक रिश्ते की समझ साहित्य-समीक्षा के लिए वैसे ही ज़रूरी है जैसे समाज की समीक्षा के लिए। हम अपने समाज की सहीतौर पर असलियत नहीं जान सकते जब तक उसकी अंतर्वस्तु और रूप को ठीक-ठीक न समझ लें।

सामाजिक संबंधों का प्रतिफलन ही राजनीति, संस्कृति व साहित्य में भी होता है। यह समाज वर्ग-समाज है जिसमें दो प्रमुख परस्पर-विरोधी वर्ग हैं। एक ओर, बड़े सरमायादार और सामंत हैं जो विदेशी इजारेदारों से भी साठ-गांठ किये हुए हैं, दूसरी ओर समाज के शेष वर्ग हैं। यह सामाजिक अंतर्वस्तु राजनीति के रूप में प्रतिफलित होती है जिसे हमने 'लोकतंत्र' नाम दिया है। यहां भी अंतर्वस्तु और रूप में संघर्ष चल रहा है। समाज की अंतर्वस्तु में व्याप्त विरोधी तत्व राजनीति में प्रतिफलित हो रहे हैं। जहां एक ओर शोषक-शाषक वर्गों की पार्टियां जैसे 'कांग्रेस', 'भाजपा' आदि हैं तो दूसरी ओर अन्य शोषितवर्गों की पार्टियां व सर्वहारा की क्रांतिकारी मार्क्सवादी पार्टी भी है। इस तरह सामाजिक सत्य का साक्षात्कार करके ही हम शोषित वर्गों व सर्वहारा वर्ग से प्रतिबद्ध होते हैं, जिससे मौजूदा हालात में हम जनवादी ताकतों के साथ जुड़कर जन की जनवादी क्रांति के कार्य को पूरा कर सकें। साहित्य के समीक्षक को भी साहित्य व कला की समीक्षा के लिए द्वंद्वात्मक पद्धति को अपनाना होता है। इसका अर्थ यह है कि साहित्यिक कृति को उसके उन तमाम अंतर्विरोधों, अंतःसंबंधों व अंतःक्रियाओं का विश्लेषण-संश्लेषण करके समीक्षित करना होगा जो उसके रूप और अंतर्वस्तु के उपादान होते हैं। हर महान साहित्यिक रचना में जीवन-प्रक्रिया घटित होती है जो द्वंद्वात्मक होती है व इतिहास के एक खंड का हिस्सा भी होती है। उसे उस युग विशेष की जीवित चेतना कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। सामाजिक

चेतना के भीतर वर्ग-विचार, वर्ग-विचारधारा और वर्ग-सौंदर्य की रुचि समाहित होती है। हमारी साहित्यिक समीक्षा अंतर्वस्तु और रूप की इन तमाम जटिलताओं को व्याख्यायित करती है और उन्हें रचना-युग के सामाजिक-आर्थिक अंतःसंबंधों के साथ उसके रिश्ते को भी तलाश करती है। इन जटिलताओं को रचना-प्रक्रिया में काम करने वाले सौंदर्यशास्त्रीय तत्वों से भी जोड़कर परखते हैं। भाषा, बिंबविधान, प्रतीक-विधान, रूपक और मिथ का विश्लेषण भी अंतर्वस्तु की जटिलताओं को विश्लेषित करने के लिए किया जाता है।

द्वंद्वात्मकता के नियम किसी साहित्यिक कलाकृति में भी काम करते हैं। कलाकार अपनी कला का मसाला समाज से प्राप्त करते हैं। उनका ज्ञान और मानसिक-संरचना भी समाज-सापेक्ष होती है क्योंकि इन सबको वे कंडीशंड रिफ्लेक्सों के माध्यम से समाज से अर्जित करते हैं। वे समाज से प्राप्त कला-अंतर्वस्तु के कच्चे मसाले को अपने वैयक्तिक प्रयास द्वारा नया कलात्मक रूप दे देते हैं। एक जीवंत रचना में, जीवन-प्रक्रिया होने के कारण ऐंटीथीसिस का संघर्ष होता है। यह ऐंटीथीसिस का पैटर्न बिंबों, प्रतीकों और कृति की भाषा तक में प्रतिफलित होता है। विश्वभर की महान कृतियां इस बात की प्रमाण हैं। दो विराधी जीवन-मूल्यों व सौंदर्य-मानों का प्रतिनिधित्व करने वाले राम और रावण में से एक भी निकाल दीजिए, 'रामायण' निष्प्राण हो जायेगी। इन विरुद्धों का प्रतिफलन भाषिक संरचना में भी मिलता है। यही बात 'इलियड', 'एनीड', 'डिवाइन कमेडी', 'पैराडाइज़ लॉस्ट' और 'रामचरितमानस', 'राम की शक्ति पूजा' और 'अंधेरे में' पर भी लागू होती है। इनमें द्वंद्वात्मकता का निर्वाह हुआ है, इनकी जीवंतता का यही राज है। शेक्सपीयर के नाटक भी अपनी द्वंद्वात्मक प्रकृति के कारण ही अमर है। उनके 'अर्थिलो' में से खलनायक 'इयागो' को या 'हैमलेट' में से 'क्लाडियस' को निकाल दीजिए, ये नाटक 'न-कुछ' में बदल जायेंगे। इस तरह नकारात्मक और सकारात्मक तत्व महान साहित्यिक कृतियों में अवश्य होते हैं। इन तत्वों का संबंध ऐतिहासिक सामाजिक आर्थिक आधार से भी होता है। वह संबंध ग्रीक साहित्य में भी था, और शेक्सपीयर, तुलसी, कबीर, निराला और मुक्तिबोध की रचनाओं में भी। मार्क्सवादी विश्वदृष्टि ही कृति को इन सभी अंतःसंबंधों में देखने की दिशा प्रदान कर सकती है। इसके

रचनात्मक अमल द्वारा वैज्ञानिक व तर्कसंगत समीक्षा पद्धति को विकसित किया जा सकता है। तभी साहित्य में विकसनशील व अवरोधक तत्वों की पहचान करके नये मानव की नयी संस्कृति के निर्माण में सकारात्मक पहलुओं को आत्मसात् करके सच्चा योगदान दिया जा सकता है। मार्क्सवादी जनवादी समीक्षा द्वारा ही मनुष्य को युगों पुराने अंधकार व उस शोषण-परंपरा द्वारा फैलाये गये अंधकार व मिथ्या चेतना के बंधनों से मुक्ति मिल सकती है जो हमारे जीवन के हर क्षेत्र में घर कर गयी है क्योंकि शोषक-शासक वर्गों ने उत्पादन के बड़े साधनों पर ही कब्जा नहीं जमाया हुआ है बल्कि विचार-उत्पादन के साधनों पर भी उन्हीं का कब्जा है।

मार्क्सवादी जनवादी समीक्षा शोषकों व उनकी विचारधाराओं के खिलाफ हमारे विचारधारात्मक संघर्ष का एक हिस्सा है। कला, साहित्य व समीक्षा में रूप पर विशेष बल देने वाली करतूत को हम रूपवाद कहते हैं। रूपवाद, दरअसल, कला क्षेत्र का भाववाद है, इसीलिए हम रूपवाद से भी जद्दोजहद करते हैं। पुरातनकाल से एक भाववादी परंपरा ऐसी रही है जो रूप को एक अलग चीज मानती रही है। उस आदिम भाववाद को आधुनिक रूप देने वाले कुछ 'विद्वान' आज भी देखने को मिल जाते हैं। वे रूप को आत्यंतिक घोषित करते हैं तथा चालाकी से अंतर्वस्तु को रूप से काटने का प्रयास करते हैं। पिछले दिनों इस चालाकी का नमूना अमेरिका के एक प्रतिक्रियावादी समीक्षक, मार्शल मैक्लुहान, ने यह कह कर पेश किया कि 'फ़ार्म ही कंटेंट होता है'। यह आदिम अनुभववाद की ओर प्रत्यागमन है। रूपवादी रूप और रूपवादी मांगों को बढ़ाचढ़ा कर पेश करते हैं। दरअसल, रूपवाद प्रतिक्रियावादी ताकतों के हाथ का अस्त्र रहा है जिससे वे यथास्थिति बनाये रखने में सफल हो जाती हैं। वे चाहती हैं कि शोषण समाज की विभिन्न गतिविधियों की वर्गीय अंतर्वस्तु को लोग न जानें तथा रूप पर ही ध्यान केंद्रित करें। अगर कहीं रूप की अंतर्वस्तु का जनसमूह को भी पता चल गया तो वे वर्ग-समाज की सच्चाई को व शोषकों के चेहरों की पहचान को नग्न सत्य के रूप में समझकर इस समाज को बदलने के लिए कटिबद्ध हो उठेंगे। वे इसकी अंतर्वस्तु और रूप को भी बदलने के लिए प्रयत्न कर सकते हैं।

किसी भी वर्ग-समाज में सारे सिद्धांत वर्गीय चरित्र के होते हैं क्योंकि उन्हें समाज के मनुष्य ही बनाते हैं, कोई सिद्धांत आसमान से नहीं टपकते

ज्यादातर लोग अनजाने ही शोषक वर्गों की मिथ्या विचारधारा के शिकार होते हैं, इसीलिए शोषित वर्गों में हम ऐसे लोग पाते हैं जो मजदूर वर्ग की वैज्ञानिक विचारधारा व तर्कसंगत ज्ञान, मार्क्सवाद-लेनिनवाद के प्रति उदासीनता या विरोध का भाव रखते हैं, क्योंकि वे शोषकों की विचार-परंपरा के वर्चस्व का शिकार होते हैं। कुछ लोग मिथ्या चेतनावश सोचते हैं कि कला और साहित्य तो वर्गोत्तर होते हैं, कुछ तो उसे लोकोत्तर भी मानते हैं। मिथ्या चेतना व अज्ञान शोषकों का हित करते हैं। रूपवाद इस अज्ञान का ही एक रूप है। इसीलिए वह शोषकों का हित साधन करता है और मनुष्य की ज्ञान-पिपासा को कुंद करके ज्ञान के दायरे को सीमित करता है। इसीलिए शोषक शासक वर्ग उसे बढ़ावा देते हैं। हम रूपवाद से संघर्ष करते हैं। रूपवाद जनवाद-विरोधी व व्यक्तिपूजा की चेतना को भी जन्म देता है और अपनी अंतिम परिणति में मेहनतकश जनता के हितों के विरुद्ध जाता है। जो भी व्यक्ति या संगठन रूपवाद का शिकार हुआ वह भयंकर भूले करने के लिए अभिशप्त हो जाता है। एक समय में सी.पी. आइ. ने कांग्रेस के शब्दाडंबर यानी भाषिक संरचना पर विश्वास करके उसे प्रगतिशील शक्तियों का प्रतिनिधि स्वीकार कर लिया जबकि यथार्थतः कांग्रेस ने बड़े पूंजीपतियों व बड़े भूस्वामियों का ही हित साधन किया। कांग्रेस की नीतियों की अंतर्वस्तु को सही न पहचान पाने के कारण ही सी.पी.आइ. ने इंदिरा गांधी की व्यक्तिपूजा यानी अधिनायकत्व में योग दिया। इस तरह रूपवादी दृष्टि अपने अंतिम विश्लेषण में जनवाद के विरोध की ओर ले जाती है। इसीलिए विश्वभर के मार्क्सवादी लेनिनवादी बुद्धिजीवियों ने रूपवाद से संघर्ष किया है। शोषक शासक वर्गों ने हर देश में रूपवाद को बढ़ावा दिया है। आज भी अमेरिका आदि साम्राज्यवादी देश व हमारे यहां के पूंजीवादी-सामंती वर्ग हज़ारों रुपयों व किराये के बुद्धिजीवियों द्वारा रूपवाद को फलता फूलता देखना चाहते हैं। भारत में साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में नयी-नयी रूपवादी पद्धतियां प्रचरित की जाती रही हैं। काफी समय तक प्रतिक्रियावादी समीक्षकों ने सामंती रूपवादी पद्धतियों जैसे रस-सिद्धांत, अलंकार-सिद्धांत व वक्रोक्ति और ध्वनि सिद्धांत को कविता की समीक्षा के प्रतिमानों के रूप में प्रतिष्ठित किया। जब प्रगतिशील बुद्धिजीवियों ने इन प्रतिमानों के वर्गाधार व खोखलेपन को उजागर किया तो नये प्रतिक्रियावादी हथकंडों ने अमेरिकी नयी

समीक्षा को समीक्षा के लिए कारगर हथियार बनाना चाहा। इस रूपवादी पद्धति की भी वंशवेलि आगे न बढ़ सकी। इसका खंडन भी तर्कसंगत ढंग से किया गया और इस तरह जनवादी समीक्षा को विकसित करके हिंदी साहित्य की आलोचना को आगे विकसित करने का प्रयास हुआ।

मार्क्सवादी जनवादी समीक्षा रूपवाद से संघर्ष करती है। इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि वह रूप की अवहेलना या क्षति करती है। आज तक किसी भी मार्क्सवादी चिंतक या क्रांतिकारी ने कलाकारों को खराब या लचर रूप में कला सृजन की सलाह नहीं दी है। ए. ज़िस ने अपनी पुस्तक 'फ़ाउंडेशंस आफ़ मार्किस्ट ऐस्थेटिक्स' में लिखा है कि 'अंतर्वस्तु की निर्णायक भूमिका स्वीकारते हुए भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी सौंदर्यशाली कलात्मक रूप की ओर भी विशेष ध्यान दिलाते हैं।' ज़ाहिर है कि कोई भी समझदार आदमी कला में अंतर्वस्तु को सपाट रूप में पेश करने की सलाह नहीं देगा। मार्क्सवादी जानते हैं कि कोई भी अच्छा विचार अपने आप में अच्छी रचना नहीं बन जाता, उसे सुंदर बिंबों में सजाकर पेश करना पड़ता है। यह मान्यता उस अतिवादी समझ से भिन्न है जिसे 'सौन्दर्यवाद' कहा जाता है, जिसमें सौंदर्य सौंदर्य के लिए ही है। क्रोचे आदि सौंदर्यवादी अभिव्यंजना को ही कला का नियामक तत्व मानते रहे हैं।

सौंदर्यवादी कला के सौंदर्यगत सवालों को आत्यंतिक घोषित करते हैं। सौंदर्यवाद भी कुल मिलाकर 'कला कला के लिए' सिद्धांत की ही पुनरावृत्ति है। ए. ज़िस ने सौंदर्यवाद के खोखलेपन को एक सोवियत कलाकार, डी. मूर रोदिन के इस वक्तव्य द्वारा उजागर किया है : 'बिना रूप के कोई कला कला नहीं हो सकती, मगर 'फैशनपरस्त कला' दानवी होती है।' सौंदर्यवाद, दर असल, इस फैशनपरस्त कला का हामी है। जिसे उपभोक्ताओं के लिए माल की तरह तैयार कराया जाता है। यह कला प्रायः झूठी व धोखादेह होती है। सौंदर्यवाद 'विषरस भरा कनक घट जैसे' ही है। ज़्यादातर प्रतिक्रियावादी विचारधारात्मक अंतर्वस्तु को आकर्षक रूप का सहारा लेना ही पड़ता है अतः सौंदर्यवादी इसी आधार पर उस की श्रेष्ठता घोषित करते हैं। इसीलिए अंतर्वस्तु की बात को वे महत्व नहीं देते।

साहित्य में सौंदर्यवाद भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतिफलित होता आया है। प्रतीकवाद, बिंबवाद, अभिव्यंजनावाद, प्रभाववाद आदि ऐसे ही साहित्य

सिद्धांत थे जिनमें कला की रूपाकृति को ही अंतिम सत्य मानकर समीक्षा को सीमित करने के प्रयास हुए। अंग्रेज़ी व अमेरिकी साहित्य में 'नयी समीक्षा' भी इसी की एक शाखा थी। बाद में 'शैली विज्ञान' व 'नया शैली विज्ञान' भी रूपवाद के ही नये रूप बनकर आये। इसी तरह संरचनावाद भी रूपवाद का ही दूसरा नाम था। ये सब फैशनेबल रूप की समीक्षा-पद्धतियां हैं जिनमें पूंजीवाद की गिरावट, संकुचन व तंग नज़र की प्रवृत्ति को बखूबी देखा जा सकता है। दूसरी ओर सामाजिक यथार्थवादी जनवादी समीक्षा दृष्टि है जो विश्वभर के सर्वाधिक विकसित ज्ञान को आत्मसात करके दिनोंदिन व्यापक होती जा रही है।

रूपवादी, शैलीवैज्ञानिक व संरचनाधर्मा समीक्षाएं अब मानव से तिलचट्टा बनने की प्रक्रिया में है। गहराई से देखें तो संकुचन की यह प्रक्रिया स्पष्ट हो जायेगी। नया समीक्षक कम से कम 'पोइम आन द पेज' की बात तो करता था, यह पृष्ठ की कविता धीरे-धीरे 'काव्य एक शब्द है' में संकुचित कर दी गयी, फिर पाठात्मक, भाषा वैज्ञानिक व संरचनावादी समीक्षाओं में कविता सिर्फ शब्द में सीमित रह गयी। शैली वैज्ञानिकों ने और आगे का कमाल कर दिखाया। उन्होंने कविताओं के संज्ञा पद, सर्वनाम पद, क्रियाविशेषण पद व क्रियापदों में उन्हें और अधिक संकुचित करके समीक्षा की ऐसी तैसी कर दी। नये शैली वैज्ञानिक उसे बलाघात, अर्द्धविराम और विराम चिह्नों तथा अमूर्त ध्वनि पुंजों तक घटाने की जी तोड़ कोशिश कर रहे हैं। इस तरह रूपवादी समीक्षाएं धीरे-धीरे पतन की ओर व संकुचन की ओर बढ़ रही हैं। वे रचनाओं को सारे संदर्भों से काटकर एक बेहूदगी में बदलने की कोशिश में हैं। उनके तई एक रचना एक बंद शाब्दिक संरचना होती है जो कि एक बहुत बड़ा झूठ है। अमेरिकी प्रगतिशील समीक्षक जीन बैल ने बहुत सही ही कहा : "साहित्यकारों को यह मानना होगा कि कोई साहित्यिक कृति एक संकुचित शब्द संरचना नहीं होती बल्कि वह भिन्न सामाजिक सत्यों की शाब्दिक अभिव्यक्ति होती है।" (साइंस एंड सोसाइटी, पतझड़ 1932)

(कंक : मार्च-अगस्त 1979)

सामाजिक संदर्भ और लेखकीय दायित्व

वर्तमान सामाजिक संदर्भ और लेखक के दायित्व पर चर्चा करते वक़्त यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि हमारे देश में और पश्चिम के पूंजीवादी देशों में एक वक़्त यह प्रचार जोर-शोर के साथ किया गया कि लेखक का जो रचनाशील व्यक्तित्व होता है वह उसके भोक्ता व्यक्तित्व से अलग होता है। इसी तर्क के आधार पर यह सिद्ध करने की कोशिश की गयी कि रचनाकार जो कुछ रचता है उसकी पूर्ण स्वायत्तता होती है यानी उसका न तो समाज से कोई लेना देना होता है और न ही इतिहास से। यहां तक कि रचना स्वयं रचनाकार से भी अलग होती है। उसे उसके वैयक्तिक जीवन से भी संपृक्त नहीं माना जा सकता। इसी से यह बात भी निकाली गयी कि लेखक का कोई सामाजिक दायित्व नहीं होता। वह तो स्वांतः सुखाय लिखता है।

यह प्रचार पश्चिम के देशों में आज भी नये नये रूपों में चल रहा है जबकि हमारे देश में और साम्राज्यवाद से संघर्षरत तमाम तीसरी दुनिया के देशों में इस तरह की मिथ्या चेतना से उबरने की कोशिशें चल रही हैं। पश्चिमी देशों में आज भी प्लेटो के ज़माने की यह धारणा प्रचारित हो रही है कि लेखक तो दैवी शक्ति से परिचालित होता है और वह समाज से ऊपर होता है। उसे जगत गति नहीं व्यापती और वह तो रहस्यमयी शक्ति के साथ चरम साक्षात्कार के क्षणों में ही रचना करता है। हमारे देश में भी सामंती ज़माने से काव्यहेतु तलाश करने की जो कोशिश रही उसमें भी बल दैवी प्रतिभा पर ही ज़्यादा रहा, समाज को और परिवेश को बरतरफ़ ही किया गया। लोग सोचते थे कि वेदों तक की रचना समाज से अलग रह कर जंगलों में हो गयी, वाल्मीकि, सूर और अनेक संत समाज से दूर रह कर ही श्रेष्ठ रचनाकर्म कर पाये, ऐसी हालत में काव्यहेतु व्यक्ति में स्थित दैवी काव्यप्रतिभा के अलावा भला क्या हो

सकता है। तर्क दिया जाता है कि कवि को न तो सीकरी से कोई काम होता है और न ही भवसागर में गोते लगाने की ज़रूरत होती है, वह इन सबसे ऊपर होता है। अतः उसका अपने वर्तमान में कोई सामाजिक दायित्व नहीं होता। इस तरह का प्रचार हिंदी साहित्य में खूब हुआ है। इस प्रचार में सामंती काव्यशास्त्र से लेकर अमरीकी नव्य समीक्षा और पश्चिमी शैली वैज्ञानिक समीक्षा पद्धतियों और संरचनावाद तक की मदद 'भाई' लोगों ने ली है। इस प्रचार में छिपी मिथ्या चेतना को सत्तरोत्तरी सालों में उभरे जनवादी साहित्य आंदोलन ने उजागर किया और समाज तथा साहित्य के अपरिहार्य रिश्ते को रेखांकित किया।

कोई भी रचनाकार अपने वक़्त के सामाजिक संदर्भों से अलग-थलग रह कर और अपने वक़्त तक पूरे मानव समाज द्वारा अर्जित ज्ञान-भंडार के प्रति उदासीन रह कर महान रचनाकार नहीं हो सकता। अतीत का कोई भी उदाहरण लें, हम पायेंगे कि हर महान रचनाकार अपने वक़्त तक के दार्शनिक ज्ञान को अर्जित करके अपने आसपास के समाज को बेहतर देखने, विद्रूप और कुरूप की जगह सौंदर्य देखने की तड़प को अभिव्यक्त करने के कारण ही महान रचनाएं दे सका। यह हो सकता है कि अपने युग की ज्ञान-सीमाओं को वह न लांघ पाया हो, पर समाज से ग्रहण करके, अपने समाज की हालत देखकर उसे बेहतर बनाने के सपने संजोने और मावीय गुणों को और अधिक विकसित करने में अपना योगदान देने में वह पीछे नहीं रहा। आप तुलसी, सूर, कबीर को लें या छायावाद के साम्राज्यवाद-सामंतवाद विरोधी महान रचनाकारों को देखें या आज के युग में मुक्तिबोध का उदाहरण लें, आप यह पायेंगे कि इनकी महानता का राज़ अपने वक़्त के संदर्भ को पहचानने और अपने समाज को बेहतर बनाने के लिए अनिवार्य ज्ञानदर्शन को अर्जित करके यथासंभव पूरा हो सकने वाले सपने के सिरजने में ही पायेंगे।

इसी के साथ एक सच्चाई और उभर कर आती है। रचनाकार अपनी

विचार की पूंजी अपने समाज से लेता है। वर्गों में बंटे समाज में विचार वर्गीय होते हैं, अतः वह शोषित होते हुए भी बहुत से विचार सत्ताधारी शोषक वर्ग के ग्रहण कर लेता है। समाज में जिन वर्गों का अधिकार उत्पादन के साधनों पर होता है यानी समाज की संपदा जिन वर्गों के हाथ में होती है, उनके विचार भी समाज पर छाये रहते हैं हालांकि शोषित और गरीब अवाम के विचार भी शोषक विचारों से टकराते रहते हैं। इसीलिए हम रचनाकारों की रचनाओं में अंतर्विरोधी विचारसंपदा पाते हैं। सत्ता पर और निजी संपत्ति पर काबिज़ धनी वर्गों का हित साधन करने वाले रचनाकार भी होते आये हैं, चारण और भाट भी होते रहे हैं, आज भी हमें देखने को मिल जाते हैं, मगर महान रचनाकार वे ही हो सके हैं जो समाज के बड़े हिस्से यानी अवाम के सुखदुख के साथ एकाकार हो कर उनकी भौतिक ओर आत्मिक बेहतरी के लिए व्याकुल रहे और अपनी चेतना को यथाशक्ति विकसित करके ज्ञान की अबाध धारा में अपना भी योगदान कर गये। शेक्सपीयर, ताल्स्ताय, प्रेमचंद, व्हिटमैन, हावर्ड फास्ट, गोर्की और लू शुन हों या निराला और मुक्तिबोध, इन सबके भीतर अपने सामाजिक संदर्भों को समझने और उनके साथ अपनी सक्रिय पक्षधरता अभिव्यक्त करने की तड़प उनमें रही जो उनसे महान रचनाएं समाज को दिलवा सकी। मानव समाज बड़े रचनाकारों को अमर बनाये रखता है उन्हें देश काल से ऊपर उठा देता है। मानव समाज कितना उदार और विशाल हृदय वाला है, इसका अंदाज़ा इसी सत्य से लगाया जा सकता है कि वह समाज के बहुजनहिताय लिखने वाले रचनाकार के रचे हुए रावण और इयागो जैसे खलनायकों को भी अमरता प्रदान कर देता है, वह मुक्तिबोध जैसे जनप्रतिबद्ध और अज्ञेय जैसे जनविरोधी कवि यानी भले-बुरे दोनों को ही अपने गले से लगाये रहेगा, हां यह ज़रूर है कि वह यह बताता रहेगा कि दोनों में से किसने वृहत्तर मानव समाज की पीड़ाओं और वेदनाओं से बेचैनी महसूस करके अपनी रचनाओं को कलात्मक शक्ति दी, और किसने मुट्ठी भर शोषकों की विचारधारा की वकालत करने और व्यक्तिवाद की मछली उछालने में ही अपनी ताकत और कला-क्षमता का इस्तेमाल किया।

इस पृष्ठभूमि में हम रचनाकारों को भी वृहत्तर समाज के सामने मौजूद तमाम चुनौतियों को और उनके वर्तमान संदर्भों को समझना होगा,

अपनी रचनाशक्ति का विकास हम वर्तमान संदर्भों को ठीक से पहचाने बिना कर ही नहीं सकते और जो रचना अपने समय के यथार्थ को नहीं अभिव्यक्त करती, जो अपने समय में प्रासंगिक नहीं है, वह किसी भी अन्य समय के लिए भी प्रासंगिक नहीं होती। साहित्य का इतिहास इस सत्य का प्रमाण है। प्रेमचंद का साहित्य यदि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के वक़्त का भारतीय चित्र प्रस्तुत न करता तो आज भी उसकी कोई खास अहमियत न होती। यही बात गोर्की ओर लू शुन के बारे में भी सही है।

मगर अपने समय की सामाजिक सच्चाई को पहचान पाना आसान नहीं है। आज के ज़माने में तो और भी मुश्किलें हैं क्योंकि आज की परिस्थितियों में जटिलताएं कहीं ज़्यादा बढ़ गयी हैं। रचनाकार का पहला दायित्व आज की सच्चाई को वैज्ञानिक नज़रिये से पहचानना है। समाज की सतह की पहचान से जो साहित्य जन्मता है उसे प्रकृतवादी कह सकते हैं। उससे यथार्थ की गहरी परतें नहीं उघरती, अतः रचनाएं अधूरी समझ की गवाह बन कर रह जाती हैं। सो यह ज़रूरी है कि अपने समाज की सही पहचान की जाये।

यह तो हम सभी अपने-अपने अनुभवों के आधार पर जानते ही हैं कि हमारा समाज ग़रीबी, भुखमरी, अभावों और अशिक्षा, रूढ़िवादिता व पिछड़ेपन का शिकार है। हमें यह भी पता है कि यहां ग़रीब और अमीरों के बीच बहुत बड़ी खाई है। एक लेखक का काम इतना भर जानने से भी चल सकता है और इससे आगे वह यह जानने के लिए भी लालायित हो सकता है कि आखिर इस ग़रीबी और भुखमरी का, एक ओर करोड़ों की जायदाद वाले इज़ारेदारों और दूसरी ओर अधनंगे भूखे हज़ारों इंसानों के बीच इतने बड़े अंतर का क्या कारण है और क्या कोई ऐसा उपाय नहीं है जिससे हमारा समाज एक बेहतर समाज के रूप में बदल जाये। इन तमाम कारणों की तलाश ही एक रचनाकार को वास्तविकता की तहों तक ले जाती है और उसकी रचनाओं में सामाजिक दायित्व की गहनता प्रतिबिंबित हो सकती है। वर्तमान सामाजिक संदर्भों को पूरी तरह पहचानना इसीलिए ज़रूरी है।

समाज की वर्तमान परिस्थिति को व्याख्यायित करने को लेकर देश में मतभेद है। सतह की परिस्थिति जो एक दम स्पष्ट है, मतभेद की चीज़ नहीं। मसलन, यह कोई अस्वीकार नहीं करता कि देश की जनता का

बड़ा हिस्सा ग़रीब है। समाज व्यवस्था में जो-जो कोढ़ हैं उनकी जड़ें तलाश करने और उन्हें नष्ट करके समाज को स्वास्थ्य लाभ कराने के तरीकों को लेकर है। रचनाकार अपने समय के ज्ञानविज्ञान और दर्शन का सहारा हमेशा जीव और जगत की स्थिति जानने के लिए करते रहे हैं। आज के रचनाकार का भी यह दायित्व है कि अपने समय के सर्वाधिक विकसित दर्शन और विज्ञान द्वारा वर्तमान सामाजिक स्थिति को जाने और उसमें अपना जो भी कार्यभार वह तय करे, उसका निर्वाह करे। वर्तमान सामाजिक संदर्भों का जायजा लेने के लिए हमें राजनीतिक सवालियों से भी दो चार होना पड़ेगा क्योंकि समाज की जिस दुर्दशा को लेकर हम चिंतित हैं, उस भारत दुर्दशा की वजह कहीं न कहीं राजनीति में छिपी हुई है। हमारे भारतीय समाज में आज़ादी के बाद सत्ता का हस्तांतरण कांग्रेस पार्टी को हुआ। कुछ एक अंतरालों को छोड़कर आज तक वह देश की सत्ता अपने हाथ में लिए हुए है। आज के विकसित राजनीतिक ज्ञान के आधार पर यह बात सत्य सिद्ध हो चुकी है कि वर्गों में विभक्त समाज में सत्ता किन्हीं न किन्हीं वर्गों के हाथ होती है। इस ज्ञान के आधार पर यह सवाल उठता है कि आखिर कांग्रेस पार्टी समाज के किन वर्गों का हित साधन करती है? इस सवाल का जवाब तलाश किये बग़ैर बड़े से बड़ा विद्वान या राजनीतिज्ञ मौजूदा सामाजिक स्थिति की तह में नहीं जा सकता।

इस सवाल के जवाब की तलाश आज के विकसित दर्शन और राजनीतिक ज्ञान यानी मार्क्सवाद-लेनिनवाद की सही समझ के बग़ैर संभव संभव नहीं। देश में इस समय इस ज्ञान को अपना आधार मानने वाली दो राष्ट्रीय स्तर की पार्टियां यानी सी पी आइ और सी पी आइ (एम) हैं तथा कुछ नक्सलवादी गुट हैं। सी पी आइ कांग्रेस पार्टी को राष्ट्रीय पूंजीपतियों की पार्टी मानती है यानी उसे सामंतवाद विरोधी और इज़ारेदार पूंजीपतिविरोधी तथा साम्राज्यवाद विरोधी होने का सर्टिफिकेट देती है। इसी समझ के अनुसार सी पी आइ कांग्रेस पार्टी को क्रांति का रणनीतिक दोस्त मानकर ऐमजैसी तक और उसके बाद भी उसका साथ देती रही। इस समझ को सही इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि कांग्रेस पार्टी ने अपने शासन में सबसे अधिक फ़ायदा इज़ारेदार पूंजीपतियों, बड़े भूस्वामियों को और विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को पहुंचाया। इसके आंकड़े मौजूद हैं और खुद सी पी

आइ के और दूसरों के अखबारों ने समय-समय पर प्रकाशित किये हैं। ये आंकड़े पार्लियामेंट में कई बार पेश हुए हैं। अतः यह सच्चाई जगज़ाहिर है कि कांग्रेस पार्टी न तो इज़ारेदार पूंजीपतियों की विरोधी है और न भूस्वामियों की और न ही उसने साम्राज्यवाद से लगातार सहयोग करने का अपना रास्ता ही बदला है। यह ज़रूर है कि इज़ारेदार पूंजीपतियों के हित साम्राज्यवाद से जब-जब टकरायेंगे, तब-तब उनका साम्राज्यवादविरोधी तेवर भी देखने को मिलेगा और उनके इस तेवर का मेहतनवाश अवाम और सर्वहारावर्ग और उसकी अपनी पार्टी भी स्वागत करेगी। मगर इस तेवर से सत्ता का वर्गचरित्र राष्ट्रीय पूंजीपति बताना ग़लत समझ का परिचायक होगा। इतिहास ने सी पी आइ की समझ को ग़लत साबित कर दिया, आज भी वह अपने दस्तावेजों में कांग्रेस का वर्गचरित्र वही बनाये हुए है, मगर अमल में वामपंथी ताक़तों के साथ आ गये हैं, यही ग़नीमत है जबकि डांगेपंथी अमल में अब भी वहीं अड़े हुए हैं जहां वे पहले थे। हां, यह ज़रूर है कि कार्यनीतिक तौर पर कांग्रेस या अन्य दलों के साथ कभी कभार गठजोड़ सर्वहारावर्ग कर सकता है।

समाज के वर्तमान संदर्भों को वैज्ञानिक ढंग से व्याख्यायित करने वाले दर्शन और ज्ञान यानी मार्क्सवाद और लेनिनवाद की क़सम खाने वाले नक्सलवादी गुट उसी उग्रवादी कम्युनिज़्म के शिकार हैं जिसे 'बचकाना मर्ज़' कह कर लेनिन ने बहुत पहले खारिज कर दिया था। छत्तीस गुटों में बंटे सभी नक्सलवादी गुट कांग्रेस को दलाल पूंजीपतियों यानी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के एजेंटों की पार्टी मानते हैं। इस हिसाब से ब्रिटिश शासक उनके अब्बल दुश्मन होने चाहिए क्योंकि उनके अनुसार यह आज़ादी झूठी है और अभी भी यहां अंग्रेज़ों का राज है। मगर मज़ेदार बात यह है कि नक्सलवादी गुट विदेशीनीति में सोवियत संघ को अपना अब्बल नंबर का दुश्मन मानते रहे। इस समीकरण के अनुसार वे स्वतः ही अमरीका के हमसफ़र होते हैं। देश के स्तर पर दलाल पूंजीपतियों की पार्टी यानी कांग्रेस उनकी अब्बल नंबर की दुश्मन होनी चाहिए, मगर ऐसा नहीं है। यहां सी पी आइ (एम) जिसे वे संशोधनवादी कहते हैं दुश्मन नंबर एक मानते हैं और उसे मटियामेट करने के लिए वे जगह-जगह इंदिरा कांग्रेस, आर एस एस और तमाम जनविरोधी तत्वों से हाथ मिलाते हैं।

भारत में विश्वसर्वहारा आंदोलनों का अनुभव हासिल करके और

ऊपर बताये गये दोनों तरह के अतिवादों से मुक्त हो कर जिस पार्टी ने यहां के समाज का तर्क संगत और सही जायजा पेश किया वह पार्टी सी पी आइ (एम) ही है। सर्वहारा वर्ग की विचारधारा और उसकी राजनीति का सही प्रतिनिधित्व करनेवाली इस पार्टी के मुताबिक भारत की आज़ादी के वक्त सत्ता का हस्तांतरण बड़े पूंजीपतियों और बड़े ज़मींदारों के ऐसे गठबंधन को हुआ जिसमें नेतृत्व बड़े पूंजीपतियों का रहा और जिन्होंने अपने स्वार्थ साधन के लिए विदेशी इज़ारेदारों यानी साम्राज्यवादी शक्तियों से भी सहयोग किया। वर्तमान सामाजिक संदर्भों को सही अर्थों में और गहराई के साथ समझने में देश के भीतर वर्गों की इस स्थिति से पूरी मदद मिलती है। सी पी आइ (एम) के अनुसार कांग्रेस पार्टी बड़े इज़ारेदारों और बड़े भूस्वामियों की पार्टी है और उनका हित साधन करने की कोशिश में वह समाज के अन्य सभी वर्गों का दमन और शोषण करती है। जैसे-जैसे उसकी असलियत अवाम को मालूम होती गयी और झूठ के आधार पर उसके लिए शासन करना और मौजूदा संसदीय प्रणाली द्वारा अपने लिए बहुमत हासिल करना मुश्किल होता दिखायी देता गया, वैसे ही एक वक्त वह तानाशाही की ओर बढ़ी। ऐसी स्थिति में शोषक वर्ग लोकतंत्र की हत्या कर देते हैं और इस तरह नंगी तानाशाही समाज पर थोप दी जाती है।

नंगी तानाशाही के दुर्दिनों का एक छोटा कालखंड ऐमजैसी के रूप में हम देख चुके हैं। वह कालखंड शोषकवर्गों के आपसी टकराव और गहरे राजनीतिक व आर्थिक संकट से जन्मा था जिसके लिए देश की पूंजीवादी सामंती व्यवस्था और उसकी दासी इंदिरा कांग्रेस ज़िम्मेदार थी। मगर इस तानाशाही के दौर में सबसे अधिक तकलीफ़ ग़रीब अवाम को हुई। मज़दूरों का बोनस गया, मुंह से हाथ निकालने तक की आज़ादी गयी, हड़ताल करने और आक्रोश प्रकट करने तथा मूल अधिकारों और नागरिक स्वतंत्रताओं का इस्तेमाल करने पर पाबंदी लग गयी। अख़बारों पर सेंसर लग गया। पूरा सभ्य समाज एक अस्तबल में बदल दिया गया। इस व्यवस्था ने बड़े पूंजीपतियों और बड़े ज़मींदारों को छोड़कर बाकी सभी इंसानों को जानवर से ज्यादा बड़ा दर्जा नहीं दिया। यहां तक कि उसने इंदिरा गांधी का विरोध करने वाले तमाम विपक्ष को और अपने ही कई पार्टी सदस्यों को जेल में डाल दिया।

समाज के भीतर इस तरह के दुर्दिन का एहसास देश की किसी भी अन्य पार्टी को नहीं था, सिर्फ़ सी पी आइ (एम) ने ही अपने सही राजनीतिक ज्ञान और वर्गीय समझ के आधार पर इसकी पूर्वघोषणा आठवें दशक के शुरू में ही कर दी थी कि कांग्रेस पार्टी एकदलीय शासन और तानाशाही की ओर तेज़ी से कदम बढ़ा रही है। तब उसकी बात सबने अनसुनी कर दी थी। मगर आज असलियत को आखों देख कर सभी तानाशाही के ख़तरे के प्रति अपनी आशंका व्यक्त कर रहे हैं। यह जागरूकता एक अच्छी चीज़ है। यह आशंका बिल्कुल सही है और तानाशाही के दुर्दिन से निपटने के लिए यह ज़रूरी है कि समाज का हर जागरूक मनुष्य जिसे आज़ादी प्यारी है, जिसे सभ्य समाज के एक नागरिक के रूप में रहना और समाज की बुराइयों को बुरा कहने और अच्छे को अच्छा कहने का अपना अधिकार बरकरार रखना तथा संघर्ष के द्वारा अर्जित किये गये मूलभूत अधिकारों के प्रति सचेत रहना अच्छा लगता है, जो बड़े पूंजीपतियों और ज़मींदारों का हित साधन करने वाली और विदेशी इज़ारेदारों के इशारे पर आम जनता पर कहर बरपा करने वाली राजनीतिक पार्टी की और उसके नेतृत्व में एकदलीय तानाशाही कामयाब न होने देने के लिए चिंतित है, मौजूदा दौर में जनवाद की रक्षा में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। तानाशाही के बढ़ते हुए क़दमों को उन तमाम कानूनों में देखा जा सकता है जो इंदिरा कांग्रेस ने अपने शासन के दौर में समय-समय पर पारित किये। एक के बाद एक जनविरोधी कानून जैसे राष्ट्रीय सुरक्षा कानून, एस्मा और मेहनकश अवाम और बुद्धिजीवियों, डाक्टरों, प्रोफेसरों और अध्यापकों को पशुतुल्य समझने वाले कानून पारित करने की कोशिशें होती रहीं। जैसे अस्पतालों और शिक्षा संस्थाओं में काम करने वाले लोगों पर दमन करने वाले बिल तैयार हुए। प्रेस की आज़ादी छीनने वाले बिहार प्रेसविरोधी कुख्यात बिल के बारे में पूरा विश्व जान चुका है।

ये तमाम कानून इस बात का सबूत हैं कि हमारे समाज के शोषकशासक अब पाशविक साधनों से ही सत्ता में रहना चाहते हैं, वे जनवाद के शत्रु हैं, वे अवाम के दुश्मन हैं, और अवाम को लामबंद किये बग़ैर, एक व्यापक आंदोलन और शक्तिशाली जनशक्ति को गठित किये बग़ैर, आम लोगों को इस आंदोलन में शरीक किये बग़ैर, लोकतंत्र की

रक्षा में रुचि रखने वाले हर समूह, पार्टी या व्यक्ति को इस आंदोलन का हिस्सा बनाये बगैर तानाशाही को शिकस्त नहीं दी जा सकती। इसके साथ ही देश में एक वामपंथी और जनवादी विकल्प तैयार करने में भी मदद करनी होगी अन्यथा अवाम को ठगने के लिए नागनाथ की जगह सांपनाथ आ सकते हैं और तानाशाही को जन्म देने वाले पूंजीपति-भूस्वामी वर्ग अपना शोषणचक्र चलाते रहेंगे और कोई बुनियादी तब्दीली न हो सकेगी। हमारे देश की जनता के आज के पिछड़ेपन का फायदा उठाने के लिए तरह-तरह की ताकतें सक्रिय हैं। कोई धर्म के नाम पर, कोई संप्रदाय के नाम पर, कोई पोंगापंथ के नाम पर, कोई क्षेत्रीयता के नाम पर गरीब अवाम को भरमा रहे हैं जिससे वे एक संयुक्त और विशाल जनवादी आंदोलन के हिस्से न बन पायें। साम्राज्यवादी ताकतें तरह-तरह से इन पिछड़े हुए ख्यालों को शह दे रही हैं और खूब पैसा खर्च कर रही हैं। असम में, पंजाब में, गुजरात में, बिहार में, प. बंगाल व त्रिपुरा के अनेक क्षेत्रों में वे धिनौनी हरकतें कर रही हैं। कहीं वे अलगाववादी ताकतें पैदा कर रही हैं, कहीं दल खालसा के उग्रपंथियों के माध्यम से काम कर रही हैं, कहीं आनंदमार्ग, आमरा बंगाली, झारखंड मुक्ति मार्चा के ज़रिये जनता को विभाजित करने में लगी हैं, कहीं आर एस एस और जमात-ए-इस्लामी के माध्यम से सांप्रदायिक ज़हर फैला कर लोगों में फूट डालकर बड़े सरमायादारों और साम्राज्यवादियों की चाकरी कर रही हैं। ये तमाम ताकतें हमारी धरती पर कोढ़ की तरह अवाम को खा रही हैं, उन्हें आपस में ही कटवा मरवा रही हैं। मौजूदा व्यवस्था ने इस कोढ़ की जनविरोधी ताकतों को जनअसंतोष का फायदा उठाने का अवसर दिया। यही है हमारा आज का सामाजिक परिदृश्य। इसी परिदृश्य के बीच हम लोग अपने दायित्व को रेखांकित कर सकते हैं।

अब वे दिन हवा हो गये जब रचनाकार कह दिया करता था कि 'संतन को कहा सीकरी सों काम'। या फिर मंथरा की तरह मन बहलाने के खयाल से कह दिया करता था कि 'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी/चेरी छाड़ि न होउब रानी।' अब व्यवस्थारूपी सीकरी देश के किसी भी कोने में रहने वाले गरीब जन को सताने को तैयार खड़ी है, गरीब का पक्ष लेने वाले हर जन को अपना राक्षसी रूप दिखाने में लगी है, दमन, लाठी, गोली जेल और हत्या उसके स्वभाव का हिस्सा हो गये हैं। ऐसी हालत में क्या

तटस्थ और निष्क्रिय ही रहेंगे? क्या तटस्थ और निष्क्रिय रहना व्यवस्था के रक्तरंजित जबड़ों को और अधिक खूंखार नहीं बनाता, शोषित और शोषक के बीच की लड़ाई में निर्लिप्त और तटस्थ रहना भी, यानी पक्ष न लेना भी दुश्मन के पक्ष को मज़बूत बनाना है। एक सामाजिक सदस्य होने के नाते, एक जागरूक और संवेदनशील प्राणी होने के नाते कवि, लेखक और कलाकार की एक ज़िम्मेदारी, एक अति महत्वपूर्ण ज़िम्मेदारी है कि वह किसके पक्ष में खड़ा है। वह ज़िम्मेदारी उस पर उसी दिन आ गयी थी जिस दिन वह आदिकवि के रूप में पैदा हुआ था, जिस दिन उसने मासूम क्रौंच जोड़ी में से एक की हत्या करने वाले को शाप दिया था :

मा निषाद! प्रतिष्ठां त्वम् गमः शाश्वतीसमाः।

यत् क्रौंचमिथुनात् एकमवधी काममोहितम्॥

आज एक बार फिर एक बहेलिया व्यवस्था अपने तीर कमान लेकर अपनी पाशविक और बर्बर प्रवृत्ति से परिचालित होकर देश के मासूम क्रौंचों की हत्या करने के लिए तैयार हो रही है। वह हत्यारे वर्गों का हित साधन का रही है और शोषित जनों पर कहर बरपा रही है। ऐसी स्थिति में, हे आज के वाल्मीकि! आप क्या महामौन के साधक बनेंगे? क्या आनेवाली पीढ़ियां हमें नहीं धिक्कारेंगी और नहीं पूछेंगी कि आप ने क्या किया? आदिकवि ने अपने तात्कालिक परिवेश में बुरे और बर्बर की भर्त्सना की और शोषित-उत्पीड़ित का साथ दिया, चाहे वह सीता रही हो या क्रौंच जोड़ा। गोर्की और मुक्तिबोध का यह सवाल कि 'किस ओर हो तुम?' आज के संदर्भों में हम सब के लिए प्रसंगिक हो उठा है। इस सवाल से दो चार हुए बिना हम अपने सामाजिक दायित्व को न तो समझ सकते हैं और न कोई सकारात्मक भूमिका ही अदा कर सकते हैं।

आज के जटिल परिवेश में लेखक का सामाजिक दायित्व जनता के अन्य हिस्सों के मुकाबले कहीं ज्यादा बढ़ गया है। अतः उसे पूरी गंभीरता से नयी चुनौतियों का सामना करना होगा। आज के समय में इसीलिए लेखकों ने नये सिरे से स्वयं को संगठित करके अपनी सामूहिक शक्ति द्वारा समाज में शोषित उत्पीड़ित वर्गों का साथ देकर देश के जनवादी आंदोलन को बल पहुंचाने और विचारात्मक संघर्ष द्वारा तमाम जनविरोधी विचार परंपराओं को समूल मिटा देने का संकल्प लिया है।

लेखक के सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत होने का यह शुभ संकेत है। आधुनिकवादियों ने मनुष्य के अकेलेपन को ही वरदान साबित करने और ऊब, संत्रास और एक्सिडिटी को ही अपना देने की प्रेरणा देने में अपनी सारी ताकत लगा दी थी। जनवादी लेखकों ने इस अकेलेपन के फलसफा का पर्दाफाश किया और अपनी लेखक बिरादरी को बता दिया कि 'मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते'। आज वे जनवाद की रक्षा और उसके व्यापकीकरण के लिए संगठित हो रहे हैं और अपनी रचनाधर्मिता तथा व्यवहार से वे तमाम जनसंघर्षों के साथी और हमसफर बन रहे हैं।

आज लेखक के सामने जहां राजनीतिक व सामाजिक-सांस्कृतिक बुराइयों और मानव-शोषण पर आधारित विचारपरंपराओं तथा शोषकवर्गों की तानाशाही को पालने पोसने वाली रुढ़ियों से लोहा लेने और उन्हें समूल नष्ट करने के लिए कदम उठाने का सामाजिक दायित्व है, वहीं उसे जनवादी कला और साहित्य के रचनाकर्म में कलात्मक कौशल हासिल करना है। अभी तक हमने जो कुछ रचा है, उसमें से बहुत कुछ बेजान है और ज्यादातर उबाऊ है। वह मानव के संवेदनों को उद्बेलित नहीं करता और न ही उसे बैठकर सोचने और फिर उसे तदनुसार कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। इसका यह अर्थ है कि जनवादी लेखन के नाम पर जो कुछ लिखा जा रहा है, उससे भी बेहतर लेखन का दायित्व भी एक गंभीर दायित्व है। ऐसा नहीं है कि जनवादी रचनाकारों के बीच ऐसे लेखक नहीं हों, बहुत ही अच्छे और प्रबुद्ध रचनाकार हैं, बहुत कुछ अच्छा भी लिखा गया है, मगर इतना भर काफी नहीं है। इतने बरसों में जगदीश चंद्र जैसे दो एक लेखक को छोड़ दें, तो कितने स्तरीय उपन्यास लिखे गये हैं ? घोषित जनवादी कथाकारों में से तो इक्का दुक्का ही ऐसा मिलेगा जिसने जीवन के व्यापक अनुभवों को संचित करके एक अच्छा और पाठक की संवेदना को छूने वाला उपन्यास लिखा हो। इसी तरह से रचनाकर्म की बारीकियों और सौंदर्यशास्त्र के सवालों का गंभीर विवेचन करने वाला आलोचनात्मक साहित्य भी हमने बहुत कम लिखा है। वह तो अच्छा यह है कि हमारे दुश्मनों की भी घिग्घी बंधी हुई है और गंभीर आलोचना शक्ति उनके पास भी नहीं है और ज्यादातर आशोक वाजपेयी जैसे चारण लेखक वही पुराना 'साहित्य की स्वतंत्र सत्ता' का ढोल बजा रहे हैं। अन्यथा जनवादी विचारधारा का इस तरह का प्रसार इतना आसान नहीं

होता। पूंजीवादी-सामंती व्यवस्था को जिस तरह राजनीति में कोई महान चिंतक और राजनीतिज्ञ या अर्थशास्त्री नहीं मिल रहा, उसी तरह साहित्य में और विचारों के क्षेत्र में भी थर्ड रेट और चापलूस लोग ही उसे मिल पा रहे हैं। व्यवस्था के पक्षधर लेखकों को भी वामपंथी मुखौटा लगा कर ही सामने आना पड़ रहा है और छिप-छिप कर ही कांग्रेसी नेता के दासानुदास की चापलूसी करनी पड़ रही है जैसा कि मध्यप्रदेश में देखने को मिल रहा है। खुले रूप में वे अपने को तानाशाही ताकतों का दासानुदास कहलाने में शरमा रहे हैं।

वर्गदुश्मनों की विचारधारात्मक बदहाली के चलते हमें फूलकर कुप्पा होने भर से काम नहीं चल जायेगा। आज के लेखक का यह दायित्व है कि वह अपने तई अधिक से अधिक ज्ञान अर्जित करे और आज के क्रांतिकारी और वैज्ञानिक दर्शन और विचारप्रणाली से लैस हो कर अपने लेखन से सही और कारगर दखलंदाजी करने में समर्थ हो, वह सचमुच ही जनजीवन में ज्ञान की मशाल से प्रकाश भर दे जिससे कि अवाम दुश्मन अपने इरादों में कामयाब न हो सकें।

(रचनाकाल : संभवतः 1983)

आलोचना : आज की हालत

यों तो साहित्यिक आलोचना और सौंदर्यशास्त्र में दुनिया के पैमाने पर ही एक किस्म का ठहराव नज़र आ रहा है, मगर हिंदी और उर्दू में इन दिनों इस ठहराव को ले कर रचनाकारों में काफ़ी गुस्सा और बेचैनी देखने में आ रही है। यह बेचैनी काफ़ी पहले मनमोहन के एक लेख में जोकि जे एन यू से प्रकाशित एक पत्रिका में जिसे बाद में पूर्वग्रह में अशोक वाजपेयी ने भी छापा था साफ़ तौर से उभर कर आयी थी। इसी तरह की एक टिप्पणी राजेश जोशी ने भी लिखी थी जो पहले एक लघु पत्रिका में और बाद में राजेंद्र यादव ने हंस में छापी थी। इन टिप्पणियों में गुस्से की मात्रा ज़्यादा हो सकती है, मगर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि आलोचना की हालत काफ़ी ख़स्ता है। उत्तर आधुनिकतावादी मुहावरे में कहें तो 'आलोचना का अंत' हो चुका है। आलोचना के नाम पर सिद्धांत और व्यवहार में जो कुछ सामने आ रहा है, वह नयी लफ़्फ़ाज़ी में पुराने दकियानूस विचारों का ही बदला हुआ मुहावरा है। ऊपर से भाषा की चमक दमक और अंदर से दो सदी पुराने अज्ञान के आप्तवचन। यह स्थिति पश्चिम में आलोचना के सिद्धांत निरूपण में भी खूब चल रही है, हिंदी या भारतीय भाषाओं में उनके देसी संस्करण बहुतें को जल्दी ही आचार्य बना देते हैं। पश्चिम में 'नयी आलोचना' के बाद रूपवादी पद्धतियां ही नये-नये चोले पहन कर बाज़ार में आती रहीं। शैलीविज्ञान आया, संरचनावाद आया, विरचनावाद आया, उत्तरा आधुनिकतावाद और अंतवाद आया। हम सब जानते हैं कि इन सभीवादों के भूत हमारे हिंदी के आंगन में भी खूब उछल कूद मचाते हैं, जिन लेखकों के सिर चढ़ कर ये भूत नाचे, उन्हें आज की आलोचना के आचार्य पद प्राप्त हैं। 'पंडित सोइ जो गाल बजावा'। उधार के विचार ले कर गाल बजाने का मज़ा ही अलग है। इस पंडिताऊ आलोचना की परंपरा को

देखें तो एक बात सामने ज़रूर आती है कि ये पंडित व्यावहारिक आलोचना से खुद को दूर रखते हैं। पश्चिम में भी आचार्यत्व की मुद्रा रखने वाले भी जो मुख्यतः रूपवादी सिद्धांतकार हैं व्यावहारिक आलोचना से डरते रहे हैं।

मगर आलोचना की एक दूसरी परंपरा भी रही है जो रचनाओं को सिर्फ़ शाब्दिक संरचना न मानकर समाज में हो रही हलचलों और उसके सुखदुखों की अभिव्यक्ति के रूप में देखती रही है। आलोचना की इस परंपरा का विकास ऐसे दौर में ही संभव होता है जब समाज विकास की एक नयी मंज़िल में प्रवेश करने के लिए आतुर होता है। आधुनिक आलोचना की शुरुआत हमारे साहित्य में भी मुख्य रूप में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में तब हुई जब समाज गुलामी के बंधन तोड़ कर आज़ाद होने की एक लड़ाई लड़ चुका था और समाज में आधुनिक पूंजीवाद का उदय हो चुका था जिसे तमाम ज्ञान विज्ञान अपने विकास के लिए चाहिए थे और उसे अपने उत्पादन के लिए ज़्यादा से ज़्यादा बाज़ार चाहिए था और इसके लिए ब्रिटिश कंपनियों से बाज़ार की मुक्ति ज़रूरी थी। इस मुक्ति में सबसे ज़्यादा मददगार हो सकती थी राष्ट्रवाद की भावना और इस भावना के विकास के लिए गद्य और आलोचना का आविष्कार ज़रूरी था। यह प्रक्रिया हमारे यहां भी घटित हुई। साहित्य ही नहीं, संगीत और चित्रकला में भी राष्ट्रवाद की ज़रूरतों के मुताबिक़ नये-नये आविष्कार हुए। साहित्य में भारतेंदु युग से ही साहित्यिक पत्रिकाओं की शुरुआत होती है और साहित्यिक आलोचना का सूत्रपात होता है। चूंकि उस दौर की आलोचना स्वाधीनता के विचार की आंच से पैदा हुई थी, इसलिए उसमें से सामाजिक सरोकार ग़ायब हो ही नहीं सकते थे। बीसवीं सदी के शुरुआती दिनों में हिंदी आलोचना की विकास यात्रा का एक अहम पड़ाव रामचंद्र शुक्ल की आलोचना में मिलता है। इस विकास को भारत के स्वाधीनता आंदोलन के विकास से अलग करके और पूरे समाज में फैल रहे आलोचनात्मक विवेक और उसकी सीमाओं से काट कर नहीं देखा जाना चाहिए।

हिंदी आलोचना के विकास में एक और नया आयाम तब जुड़ा जब आज़ादी की लड़ाई में मज़दूरवर्ग और उसकी वैचारिक राजनीतिक सांस्कृतिक भूमिका शुरू हुई जिसे साहित्य में हम 'प्रगतिवाद' के नाम से

जानते हैं। विश्वस्तर पर आलोचना के विकास में और अनेक महान आलोचकों को पैदा करने में मजदूरवर्ग की विचारधारा का योगदान किसी से छिपा नहीं है। हमारे देश में और खुद हिंदी साहित्य में इसी विचारधारा ने काफ़ी कुछ आलोचनात्मक विवेक दिया। इसी विवेक की एक बेहतर मंज़िल हमें मुक्तिबोध में मिलती है। आज़ादी के बाद के दौर में वर्गों की नयी कतारबंदी को समझ पाना रचनाकारों के लिए मुश्किल हो रहा था, नये समाज के सारतत्व को समझ न पाने की हालत में साहित्य का समाज निरपेक्ष होते जाना स्वाभाविक ही था। नयी कविता, नयी कहानी, नयी आलोचना आदि के पीछे वैचारिक आग्रह यही था कि इन विधाओं का समाज से या राजनीति से कोई लेना देना नहीं, ये सर्वस्वतंत्र हैं। शीतयुद्ध की राजनीति के नारे खासतौर से लेखकों को आकर्षक लग रहे थे, वे 'कांग्रेस फ़ार कल्चरल फ़्रीडम' की भाषा के मायाजाल में फंस कर अपने वैचारिक विकास को अवरुद्ध कर रहे थे। ऐसे में मुक्तिबोध ने उस भाषा के निहितार्थों को खोला और हमारे साहित्य को समझने-बूझने के लिए एक नये किस्म का आलोचनात्मक बोध दिया। आचार्यों की मुद्रा में उन्होंने सिद्धांत ज़रूर नहीं गढ़े अपनी व्यावहारिक आलोचना के द्वारा अपने संवदेनात्मक ज्ञान की धरोहर हमें दी। मुक्तिबोध ने अपने समय के समाज, संस्कृति, साहित्य, राजनीति और विचारजगत का बारीकी से जायजा लिया और मार्क्सवादी जीवनदर्शन की सहायता से इन सभी क्षेत्रों के रंग रेशों की पहचान की। ज्ञान के अतुल भंडार से खुद को लैस करके और उत्पीड़ित शोषित जनता की अटूट पक्षधरता से आलोचनात्मक विवेक हासिल करके उन्होंने हमारी आलोचना को जितनी मूल्यवान सामग्री दी है, उसका पूरा अहसास हममें से बहुतों को नहीं है। वैदिक काल से लेकर अपने समय तक के साहित्य पर और फ्रांसीसी, रूसी, चीनी, अमेरिकी और अंग्रेज़ी साहित्य तक का आलोचनात्मक आलोकन मुक्तिबोध ने किया था, इस प्रक्रिया में ही उन्होंने हमारे अपने समाज और विश्व के समाजों की असलियत को समझा था और उसी के आधार पर अपना पक्ष या स्टैंड तय किया था। उनकी आलोचकीय दृष्टि उनके अपने युग और साहित्य की समीक्षा करने वाले अन्य सभी रचनाकारों के मुकाबले ज़्यादा तर्कसंगत और विवेकयुक्त थी। इसलिए प्रगतिवाद ने जिस जीवनदर्शन को हमारी आलोचना के विकास के लिए हमें सौंपा था, उसका उत्कर्ष हमें

मुक्तिबोध में ही मिलता है। यहां मैं अन्य आलोचकों का अवमूल्यन करने का इरादा नहीं रखता, मगर इतना ज़रूर कहना चाहता हूँ कि जीवन जगत और साहित्य की परख करने में हमारे अन्य आलोचक खूब चूके थे, भटकाव का शिकार थे।

आज़ादी के बाद के समय में हिंदी आलोचना में दो तरह की दृष्टियां काम कर रही थीं, एक तो वह दृष्टि थी तो जो अतीत के शास्त्रीय प्रतिमानों जैसे रस, अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि सिद्धांतों से ही काम चलाने और उन्हें फ़ायद आदि के विचारों से पुष्ट करने का काम रही थी, डा. नगेंद्र आदि विद्वान इसी दृष्टि के प्रतिफल थे। इस धड़े के आलोचक साहित्य समीक्षा को जीवनजगत की समीक्षा का हिस्सा नहीं मानते थे, एक तरह से यह समीक्षा के लिए समीक्षा का धड़ा था। दूसरी दृष्टि प्रगतिवाद के समय का विस्तार थी जो साहित्य के सरोकारों को समाज के सरोकारों से अलग करके देखने के पक्ष में नहीं थी। दोनों दृष्टियों में एक उद्देश्य ही काम कर रहा था, वह था आज़ादी के बाद के भारत में साहित्य आलोचना को भी सर्वाधिक उन्नत बनाना। यह राष्ट्र भावना कहीं न कहीं दोनों तरह के आलोचकों में काम कर रही थी। एक अतीत को गौरवान्वित करके और उसमें अपने सपने के मुताबिक जोड़तोड़ करके आलोचना की पद्धति विकसित कर रहा था तो दूसरा भारत के भविष्य का नक्शा सामने रख कर ऐसे समाज के निर्माण का स्वप्न ले रहा था जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण न हो। इसलिए इन दोनों दृष्टियों में मूल भूत टकराव भी था। छठे दशक में और उसके बाद के समय में यह टकराव सामंती भावबोध वाले आलोचकों से उतना नहीं रह गया जितना नये उभरते पूंजीवादी भावबोध वाले आलोचकों से जो कि आधुनिकतावाद की शकल में सामने आ रहा था और जिसे अंतर्राष्ट्रीय पूंजी से जुड़ी विचारधारा के रूप में ठीक पहचाना गया था। मुक्तिबोध को दो स्तरों पर संघर्ष करना पड़ा था। एक तो शीतयुद्ध की राजनीति के तहत भारत में फैलायी जा रही विचारधारा से जूझना पड़ रहा था जो रचना और आलोचना में बहुत सूक्ष्म तरीके से फैल रही थी और जिसकी मुख्य दुश्मनी प्रगतिवाद से थी, दूसरी ओर प्रगतिवादी आलोचना की गंभीर कमज़ोरियों के खिलाफ भी उन्हें संघर्ष करना पड़ा। वे यह संघर्ष किसी व्यक्तिगत रागद्वेष से नहीं कर रहे थे, बल्कि भारतीय समाज के

लिए हितकर मानवीय मूल्यों के विकास की चिंता से कर रहे थे। उनकी आलोचना दृष्टि का बहुत बड़ा और बहुत ज़रूरी हिस्सा सामाजिक सरोकार था इसीलिए वे पूरे संसार के ज्ञान, विवेक और चिंतन के आलोचनात्मक आकलन के कठिन श्रम और भारतीय स्थिति की सही पहचान की श्रमसाध्य प्रक्रिया से गुज़रे थे। इसी श्रम और सामाजिक पक्ष धरता से उन्होंने सत्य को पहचानने की दृष्टि हासिल की थी। वस्तुगत रूप में उनके सामने बड़ी भयंकर चुनौतियां थीं, व्यक्तिगत रूप में उनसे जूझने की उसी के अनुरूप उन्होंने तैयारियां कीं, तभी वे इस दुहरी लड़ाई को लड़ पाये।

हालांकि इस लेख का उद्देश्य आलोचकों के नाम गिनाना नहीं है, फिर भी प्रगतिवादी आलोचना के दो जाने माने आलोचकों की आलोचना दृष्टि पर विचार किये बगैर आज की आलोचना की स्थिति और विकास पर बात करना सही नहीं होगा। ये आलोचक हैं डा. रामविलास शर्मा और डा. नामवर सिंह। इनका हिंदी आलोचना के क्षेत्र में बहुत बड़ा योगदान है, इससे इनकार करना क़तई सही नहीं होगा। मगर इनकी आलोचना दृष्टि को सिर्फ़ दोषरहित या दूषणसहित कह कर काम नहीं चलाया जा सकता। आज़ादी के बाद के भारतीय समाज की और उसके साहित्य की विकास प्रक्रिया को समझने में डा. रामविलास शर्मा ने जो नज़रिया अपनाया वह मुख्यरूप में आज़ादी से पहले के प्रगतिवादी युग का नज़रिया था, पूरी तल्खी के साथ ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध और भारत के अतीत से ले कर प्रगतिवाद तक की हमारी जातीय समृद्धशाली सांस्कृतिक परंपरा पर गर्व का इज़हार। प्रगतिवाद के बाद के समय में जो आज़ादी हासिल हुई उसका उनका आकलन वही था जो उस समय कम्युनिस्टों के काफी बड़े हिस्सों में था कि 'यह आज़ादी झूठी है।' इसका प्रमाण यह था कि 'भारत कामनवैल्थ का हिस्सा है' और अंग्रेज़ी भी बरकरार है। इस नज़रिये पर डा. रामविलास शर्मा उसी तरह अडिग हैं, जिस तरह हंसराज रहबर जी थे। इसी नज़रिये का असर उनकी साहित्य समीक्षा और अन्य रचनाओं पर है। साम्राज्यवादविरोध इस नज़रिये का सबसे ज़्यादा सकारात्मक पहलू था, इसीलिए हमारे काम का भी है और रहेगा, मगर आज़ादी के बाद के समय, समाज और साहित्य के आकलन के लिए यह नज़रिया यथार्थ पर आधारित नहीं होने के कारण नाकाफ़ी है। ऐसी

स्थिति में अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, गिरिजाकुमार माथुर आदि में एक जैसा 'रहस्यवाद' दिखायी पड़े तो इसमें हैरानी की बात नहीं होनी चाहिए। रामविलास जी अपनी घोषित प्रतिबद्धता में मार्क्सवादी हैं, इसलिए जिन कविताओं में मज़दूर किसान नहीं है, या जिनमें मज़दूर हैं और किसान नहीं है, उनकी नज़र में वे प्रगतिशील नहीं हो सकतीं, उन्हें 'रहस्यवादी' ही समझा जाना चाहिए। ज़ाहिर है आज ज़्यादातर साहित्यकार रामविलास जी के इस नज़रिये से सहमत नहीं हैं। यह दृष्टि मार्क्सवादी आलोचना की दृष्टि नहीं है। रामविलास जी की समीक्षा का एक और पहलू है जो बहुत सूक्ष्म रूप से इसी नज़रिये से जुड़ा है। वह रचना की समीक्षा की जगह रचनाकार के मन की समीक्षा ही करते हैं। यह प्रवृत्ति मार्क्सवाद के नाम पर कई देशों में प्रचलित रही, मगर हमारे यहां भी प्रगतिवादी दौर की समीक्षा में उसे खूब देखा जा सकता है। प्रकाशचंद्र गुप्त के समीक्षात्मक निबंध इसके खासे और दिलचस्प उदाहरण हैं। रामविलास जी ने भी मनोजगत की व्याख्या के लिए ही रचनाकारों की रचनाओं का गवाही के तौर पर इस्तेमाल किया है। इसी नज़रिये से निराला की साहित्य साधना और इसी नज़रिये से अन्य कवियों और खासकर मुक्तिबोध की समीक्षा की है। मुक्तिबोध को तो इसी पद्धति के इस्तेमाल द्वारा स्किडज़ोफ़्रीनिया का मरीज़ ही घोषित कर दिया।

डा. नामवर सिंह ने अपने विकास के प्रारंभिक चरण में मुक्तिबोध के नज़रिये के समान ही आलोचना दृष्टि अपनायी, मगर बाद में जब नयी कविता, नयी कहानी आदि आंदोलनों की समीक्षा शुरू हुई और नयी कविता के प्रतिमान तलाशे जाने लगे तो इसके लिए उन्हें अमेरिकी 'न्यू क्रिटिसिज़्म'(1941) के प्रतिमान हाथ लग गये और उन्हें उन्होंने अपने तरीके से हिंदी साहित्य को अर्पित कर दिया। इसे नामवर सिंह ने अपना विचलन नहीं माना और न कभी उन प्रतिमानों के वर्गीय सारतत्व को समझने की कोशिश की। पूर्वग्रह 44-45 में जो कि नामवर सिंह पर केंद्रित अंक था, नामवर सिंह ने उदय प्रकाश के द्वारा पूछे गये इसी तरह के विचलन के बारे में एक सवाल के उत्तर में कहा कि जिसे आप विचलन कह रहे हैं उसे मैं विकास कहना पसंद करूंगा। अपने इस विकास को उन्होंने 1956 में घटित कम्युनिस्ट जगत के एक घटनाक्रम से जोड़ा। उन्हीं के शब्दों में :

1956 एक महत्वपूर्ण वर्ष है। इस वर्ष सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की 20 वीं कांग्रेस हुई थी जिसमें स्तालिनवाद को ध्वस्त करने की दिशा में कदम उठाया गया। 1956 के बाद स्तालिनवाद की सीमाओं से निकलकर मार्क्सवाद के बारे में जो नयी समझ उभरी उसने व्यपक रूपसे राजनीतिक क्षेत्र के अलावा सांस्कृतिक, साहित्यिक क्षेत्र में भी प्रभाव डाला। साहित्य और कला की समीक्षा में पहला वाला यात्रिक दृष्टिकोण नहीं रहा। इस परिवर्तन का प्रभाव औरों के साथ मुझ पर भी पड़ा।

नामवर सिंह का यह वक्तव्य उनकी बदली हुई आलोचना दृष्टि का परिचायक है। 1956 में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी ने साम्राज्यवाद के साथ सहअस्तित्व का रास्ता अपनाया था, और अन्य देशों के कम्युनिस्टों को भी यही सलाह दी थी। बल्कि भारत के कम्युनिस्टों को तो यहां के पूंजीपति-भूस्वामी वर्गों की सत्ता के साथ भी सहयोग करने की सलाह दी थी। इस सलाह का पालन डांगेपंथी कम्युनिस्टों ने कमोबेश 1979 तक किया ही और लेखकों में से भी इस सलाह के मानने वालों ने ऐमर्जेंसी जैसे जनवादविरोधी कदम तक का स्वागत कर डाला। नामवर सिंह ने भी अपना तथाकथित विकास इसी समझ के तहत किया। उन्होंने अमेरिकी 'न्यू क्रिटिसिज्म' का रूपवाद ज्यों का त्यों उधार ले लिया जब कि मुक्तिबोध ने उसके ज़्यादातर पहलुओं का पहले ही वैज्ञानिक विश्लेषण किया हुआ था और खुद नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक *इतिहास और आलोचना* में उसी तर्कपद्धति को अपनाया था जो तर्कसंगत और वैज्ञानिक आलोचना के नज़दीक थी। यह अफ़सोसजनक ही है कि नामवर सिंह ने अपने इस विचलन को विकास माना, और अमरीकी रूपवादी नव्य समीक्षकों के अलावा अंग्रेज़ी के दक्कियानूस आलोचक एफ आर लीविस को अपना आदर्श माना। दर असल, नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि हमारे यहां के पूंजीपतिवर्ग की विचारधारा के ही अनुरूप थी, इसलिए उनकी आलोचना की पद्धति का आलोचनात्मक विश्लेषण आठवें दशक में ज़ोरदार तरीके से हुआ क्योंकि उभरते हुए लेखकों ने उनके वैचारिक विचलन को वर्ग सहयोगवाद की विचारधारा के रूप में ठीक ही पहचाना था, उनकी इस पहचान में मुक्तिबोध के विचारों ने नयी पीढ़ी की मदद

की और सामाजिक स्थिति भी आठवें दशक में शासकवर्गों के असली चरित्र को समझने में मददगार हो रही थी, इसलिए साहित्य में एक नया वामपंथी उभार था जो नामवर सिंह की आलोचना के प्रतिमानों के वैचारिक सारतत्व को, उनके विचलन को ठीक-ठीक समझ रहा था। शोषक शासक वर्गों के पिछलग्गू के रूप में ही इस वैचारिक विचलन की परिणति होनी थी जो 1956 में शुरू हुआ और जिसका असली रूप ऐमर्जेंसी में देखा गया और सोवियत संघ के विघटन में जिसका गुणात्मक फल अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सामने आया।

आठवें दशक की समीक्षा में हम मुक्तिबोध की समीक्षा पद्धति का विकास देखते हैं। हमारी पीढ़ी को मुक्तिबोध के विचार अपने सबसे नज़दीक लगे और उनकी कविता प्रोफ़ेटिक लगी। 'अंधेरे में' कविता में तानाशाही का दृश्य ऐमर्जेंसी की भविष्यवाणी ही साबित हुआ, और आगे भी वह घटित हो सकता है। इसलिए आज की समीक्षा पर बात करते हुए हम आठवें दशक में लिखी गयी समीक्षा को अनदेखा करके आगे नहीं बढ़ सकते। इस समीक्षा ने एक बार फिर प्रतिक्रियावादी विचार परंपरा से मुठभेड़ की। पुराने प्रगतिवादी 'मनोकेंद्रित' रवैये को भी आलोचनात्मक तरीके से देखा और उसकी मनोगत आलोचनात्मक प्रवृत्तियों का निषेध करने का एक ज़रूरी काम किया। अभी इस दौर की आलोचना का जायजा हिंदी साहित्य में लिया ही नहीं गया है, इसीलिए आज एक अवरोध सा दिखायी देता है। इस दौर ने एक बार फिर यह सरोकार सामने रखा कि आलोचनाकर्म एक शगल नहीं, विचारधारात्मक संघर्ष का एक सामाजिक कार्य है। ऐमर्जेंसी के बाद के दौर में और खासकर नौवें दशक में हमारे देश में साम्राज्यवाद की दखलंदाजी बहुत ही सूक्ष्म तरीके से बढ़ गयी। देश के कई हिस्सों में उसकी मदद से अलगाववादी आंदोलन शुरू हुए, उग्रवादी गतिविधियां शुरू हुईं, सांप्रदायिक तत्त्वों को साम्राज्यवाद की छिपी मदद मिली, आइ एम एफ़ और विश्व बैंक के माध्यम से साम्राज्यवादी वित्तीय पूंजी ने हमारी आर्थिक नीतियों में भी अपनी घुसपैठ कर ली और संचार माध्यमों से हमारी विचार प्रणाली पर भी काफ़ी हद तक अपना प्रभाव डाल दिया। इस सबका असर यहां के लेखन पर भी पड़ रहा है। बारीक तरीके से फैल रहे इस असर की परिणति यह हो रही है कि जनवादी चेतना और जनवादी आंदोलन

कमज़ोर हुए हैं। आलोचनात्मक विवेक पर भी इस असर को देखा जा सकता है। पिछड़ी हुई चेतना का फ़ायदा उठा कर शोषक शासकवर्ग और साम्राज्यवादी व उनके पिछलगुए फिर से शीतयुद्ध के ज़माने के नारे नयी शब्दावली में ला रहे हैं। उसके लिए हमारे यहां के राजनीतिक वातावरण ने ज़मीन तैयार कर ली है। इस नयी चेतना का सारतत्व यह है कि सारी संगठित राजनीति गुंडई है, भले आदमियों का इससे क्या लेना देना! संगठन वगैरह सब बेकार हैं, इनसे कुछ होना वोना नहीं! यानी मनुष्य अकेला है, अपने अलावा बाकी सब कुछ व्यर्थ है। ज्ञान विज्ञान सब बेकार हैं! इस विचार प्रणाली को एक आकर्षक नाम दे दिया गया है: 'उत्तर आधुनिकतावाद'। हमारे उपभोक्ता समाज के मध्यवर्ग को यह नया लेबल बहुत पसंद आ रहा है क्योंकि उसकी अपनी मानसिकता से इसके सिद्धांत मेल खाते हैं। उत्तरआधुनिकतावाद का जनक ज्यां फ्रांस्वा ल्योतार अपनी थीसिसि 'द पोस्ट माडर्न कंडीशन : ए रिपोर्ट आन नालिज' (1979) में सत्य जानने के सारे प्रयासों को व्यर्थ बताते हुए कहता है कि

'पोस्टमार्डर्निज़्म इज़ दि डिपार्चर फ़्राम एनी टोटैलाइज़िंग

अटैम्प्ट आफ़ रीज़निंग फ़्राम एनी अल्टीमेट फ़ाउंडेशन आफ़ ट्रुथ।'

एक वाक्य में उत्तरआधुनिकतावाद को परिभाषित करते हुए ल्योतार ने लिखा कि 'पोस्ट मार्डर्निज़्म इन ए वर्ड इज़ इनक्रेडुलिटी इन द फ़ेस आफ़ सच यूनीवर्सल मेटानैरेटिबज़।' इन परिभाषाओं के पीछे यही चेतना काम कर रही है कि ज्ञान विज्ञान के जो भी साधन जीवन और जगत को जानने समझने के लिए बने हैं वे अविश्वसनीय हैं। सत्य जानने के आधार अब ख़त्म हो गये हैं। सारा सत्य टेलीविज़न के माध्यम से या सूचना के विस्फोट से मिल ही जाता है, इसलिए ज़्यादा मगज़पच्ची करने की क्या ज़रूरत है। टी वी सीरियलों से यह चेतना बनती है कि अपनी लड़ाई मनुष्य को अकेले ही लड़नी है, फ़िल्मों से भी यही सीख मिलती है कि अकेला एक हीरो ही सारे गुंडों, बदमाशों और डाकुओं से निपटता है। अकेलेपन का ऐसा रोचक और आकर्षक प्रभामंडल हमें ख़ूब रास आता है। यह कविताओं और कहानियों में भी आ रहा है। नये सिरे से नयी कविता, अकविता और नयी कहानी के समय के अकेलेपन, संत्रास, ऊब, असमंजस और अस्मिता की खोज की विचारधारा नयी शब्दावली में आ रही है, अपने सारतत्व में यह विचारधारा शीतयुद्ध के दौरान की

साम्राज्यवादी विचारतंत्र की दी हुई पुरानी और पिटी हुई विचारधारा है, मगर टेक्नालाजी के आयात के साथ यह सांस्कृतिक उपभोक्ता बाज़ार में ख़ूब बेची और ख़रीदी जा रही है। हमारी आज की सैद्धांतिक आलोचना इसी बिंदु पर खड़ी है यानी पीछे लौटी है।

ऐसी स्थिति में रचनाकारों का आलोचकों से क्षुब्ध होना स्वाभाविक है। रचनाओं के विश्लेषण और उनके माध्यम से रचनाकारों की वैचारिक मदद का काम आलोचना नहीं कर रही। पूर्वग्रह मंडली ने जो आलोचना समवाय जनवरी 1987 में आयोजित किया था उसमें आलोचना कर्म को कहीं भी समाज विकास के चिंतन के एक हिस्से के रूप में देखने की तड़प नहीं थी हालांकि घोषित मुख्य विषय था - 'आलोचना और समाज'। मगर पूरे आयोजन में आलोचना अलग से एक क़ैदी की तरह कटथरे में खड़ी रही, अपराधिनी की तरह। अशोक वाजपेयी की लताड़ उनके प्रारंभिक वक्तव्य में ही देखी जा सकती थी :

क्यों हमारी आलोचना में युवा शक्ति और बेचैनी का, ताज़गी का इतना

अभाव है कि वह अगर एकदम बूढ़ी तो प्रायः अधेड़ नज़र आती है?

क्यों अक्सर आलोचना का आवेग और उत्तेजना काल्पनिक शत्रुओं को

ध्वस्त करने में अधिक नज़र आती है किसी नयी खोज या धारणा

के उपस्थापन में नहीं?

यहां अशोक वाजपेयी आलोचनाकर्म को नयी खोज और नयी धारणा के उपस्थापन जैसे भाषिक संरचनात्मक कर्म तक ही सीमित रखना चाहते हैं, यदि यह विचार ही बहुसंख्यक बुद्धिजीवियों का विचार है तो आलोचना को इस अवरोध की स्थिति से गुज़रना ही होगा क्योंकि समाज विकास के दर्शन, ज्ञान विज्ञान और विचारप्रणालियां उत्तरआधुनिकतावादियों के मुहावरे में 'व्यर्थ' हो गयी हैं और जब तक समाज विकास की चिंता बौद्धिक जगत की वैचारिक चिंता नहीं होगी तब तक आलोचना की मृत्यु पर या उसके बूढ़े या अधेड़ होने पर रोया ही जा सकता है। स्त्रीविमर्शवादी महिलाएं अशोक वाजपेयी की भाषा और मेटाफ़र पर ध्यान दें। यह आलोचना के अंत की घोषणा है। आज की आलोचना की यही स्थिति है।

(रचनाकाल : 1989)

नौवें दशक के पूर्वार्द्ध में सांस्कृतिक साहित्यिक गत्यावरोध

पिछले दस पंद्रह सालों की साहित्यिक सांस्कृतिक गतिविधियों का यदि जायजा लें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि पिछले कुछ बरसों में एक ठहराव, एक शिथिलता, एक उदासीनता और रचनात्मक सांस्कृतिक गतिहीनता आयी है। सत्तरोत्तरी बरसों में जिस प्रकार का रचनात्मक उभार आया था, जिसने देशव्यापी आंदोलन का रूप ले लिया था, वह आज एक लहर या हल्की लहर की तरह सतह के नीचे है। सैकड़ों लघु पत्रिकाएं निकल रही थीं, सैकड़ों नये-नये नाटक ग्रुप बन रहे थे, नुक्कड़ नाटकों का सृजन और मंचन हो रहा था, वह सब अब नहीं है। *सनडे आब्जर्वर* में अभिनेता मनोहरसिंह से एक इंटरव्यू लेते वक्त कुलदीपकुमार ने इस सांस्कृतिक अवरोध के बारे में भी एक सवाल पूछा तो मनोहरसिंह ने भी स्वीकार किया कि यह अवरोध नाटक की दुनिया में भी है।

इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि यह अवरोध इस समय एक सच्चाई है, इसके कारणों पर गंभारता से ध्यान देना होगा। सुविधा की दृष्टि से इन कारणों को दो हिस्सों में बांटकर देखा जा सकता है : एक तो वस्तुगत कारण यानी सामाजिक आर्थिक राजनीतिक कारण, जो मेरी नज़र में प्रमुख कारण हैं, दूसरे आत्मगत यानी किसी रचना आंदोलन के अपने खुद के कारण।

पहले वस्तुगत कारणों को लें। 1967 से हमारे समाज में शासकवर्ग के प्रति मोहभंग की प्रक्रिया ने एक सकारात्मक दिशा ग्रहण की और अवाम ने कांग्रेस को देश की गुरीबी, भुखमरी और आर्थिक सांस्कृतिक संकट के लिए जिम्मेदार माना। नतीजा यह हुआ कि राज्यों में कांग्रेस पराजित हुई, मगर कांग्रेस का

अंदरूनी संकट भी इस दौर में तीव्र हुआ और नयी कांग्रेस के रूप में उसे बांटकर शासक वर्गों ने अवाम को नये आश्वासनों द्वारा छल लिया। यह छल 1973 के बाद तेज़ी से जनता ने समझ लिया और जन आंदोलनों की बाढ़ आने लगी। जनता के इस उभार ने उस वक्त के साहित्यिक सांस्कृतिक अवरोध को भी तोड़ा था और इसी का प्रतिफल जनवादी साहित्यिक आंदोलन था। सैकड़ों लघु पत्रिकाएं निकलने लगी थीं, हर संवेदनशील युवक कुछ न कुछ कह डालना चाहता था, सत्ता के चरित्र को अपनी आंखों नंगा देखकर वह सारी दुनिया को बता देना चाहता था, वह अपनी प्रतिबद्धता शोषित मानव के साथ घोषित कर रहा था। जनता भी आगे बढ़ रही थी। लाखों लोग प्रदर्शनों में, हड़तालों में और विरोध के कदमों में हिस्सा ले रहे थे। यह सारा माहौल रचनाकारों को स्फूर्ति दे रहा था। इस स्फूर्ति को ऐमर्जेंसी भी कम नहीं कर सकी। अभिव्यक्ति पर पाबंदी के बावजूद लघुपत्रिकाएं निकलती रहीं, रचनाकारों ने अभिव्यक्ति के रूप और शिल्प को बदल कर वही कहा जो सत्य था। ऐमर्जेंसी के बाद कांग्रेस 1967 के मुकाबले कहीं ज़्यादा बुरी तरह हारी, यानी केंद्र में भी वह पराजित हुई। रचनाकारों ने भी चैन की सांस ली। मगर 1980 में इंदिरा कांग्रेस की वापसी ने संवेदनशील रचनाकारों को चौकन्ना कर दिया, उन्हें ऐमर्जेंसी के अनुभव ने संगठित होने के लिए प्रेरित किया, क्योंकि वे जानते थे कि असंगठित रह कर तानाशाही ताकतों का मुकाबला नहीं किया जा सकता। प्र. ले. सं. जैसा संगठन 1970 के बाद अपने पुनः सक्रिय होने के दिनों से ही लेखकों को कांग्रेस का पिछलग्गू बनाने की फिराक में था, मगर ऐमर्जेंसी में तो उनके इरादे मूर्त रूप में सबके सामने आ गये। इसी का परिणाम यह हुआ कि 1982 में सैकड़ों लेखकों ने मिलकर जनवादी लेखक संघ का गठन करके स्वयं को संगठित किया। लेखकों ने ही नहीं, वकीलों और डाक्टरों ने भी अपने-अपने संगठन बनाये, खेतमजदूरों ने भी अपना एक संगठन बनाया। महिलाओं, नौजवानों, ने भी अपने संगठन बनाये। बैंक कर्मचारियों ने भी एक नया संगठन बनाया। जनता अपने जनवादी अधिकारों के बारे में पहले से कहीं अधिक जागरूक हुई। वह अपनी नागरिक आज़ादी फिर छिनने के प्रति चिंतित थी। उसने पुनः आंदोलन शुरू किये। मजदूरों के विशाल प्रदर्शन, किसानों के प्रदर्शन हुए। कई राज्यों में विधान सभाओं के घिराव हुए। एक ऐतिहासिक घेराव पंजाब असेंबली का हुआ जिसमें लाखों किसानों ने सरकार की लाठी गोली झेलते हुए अपने हितों के लिए बलिदान दिये। और इसी के

बाद वहां साम्राज्यवादी ताकतों के पिछलग्गू उग्रवादियों ने हिंसा का दौर शुरू किया, चूंकि यह कार्रवाई कांग्रेस के हित में और जनवादी आंदोलन के विरुद्ध जाती थी, सरकार ने लोगों को सांप्रदायिक आधार पर बंटने दिया और खून खराबा होने दिया। अलगाववादी ताकतें असम में भी इसी तरह अमरीकी साम्राज्यवादी ताकतों की शह पर सक्रिय रहीं थी, मगर उनका असर देशभर के जनवादी आंदोलन पर उतना नहीं पड़ पाया जितना कि पंजाब के आंदोलन ने डाला।

पंजाब के उग्रवाद ने पूरे देश के जनवादी आंदोलन पर ऐसा असर डाला कि लोग देश की एकता और अखंडता के लिए चिंतित हो उठे। कहीं भी बेरोजगारी के खिलाफ, मंहगाई के खिलाफ, शोषकों द्वारा किये गये उत्पीड़न के खिलाफ आवाज़ अब नहीं उठ रही थी। ये सब चीजें गौण हो गयीं। अवाम की मूल चिंता देश की एकता और अखंडता थी। यह चिंता इंदिरा गांधी की हत्या के वक़्त और गहरी हो गयी और इसी का नतीजा यह हुआ कि राजीव गांधी को अभूतपूर्व विजय हासिल हुई। बजट के साथ ही राजीव गांधी सरकार का वर्ग चरित्र जनता की आंखों के सामने उभरना शुरू हुआ था और आशा बंधने लगी थी कि अवाम फिर से जनवादी आधार पर संघर्ष में उतरेंगे। मगर तभी उग्रवादियों द्वारा राजधानी में बम विस्फोटों से अवाम की चिंता पुनः देश की अखंडता व एकता की चिंता में तब्दील हो गयी। हालात अभी भी कोई अच्छे नहीं हैं और सबके मन में यही चिंता है कि क्या किया जाये।

इन हालात का सबसे बुरा असर जनता के अपने आंदोलनों पर तो पड़ा ही, रचनात्मकता पर भी पड़ा। पिछले इन पंद्रह सालों में जो रचना का स्वर था, वह तानाशाही ताकतों के विरोध का स्वर था, आज जो तानाशाही का रूप है वह खुला रूप नहीं। इसलिए आज अवाम की चिंता यह है कि देश के टुकड़े न हों, अतः हमारा लेखन उस तरह का हो ही नहीं सकता जैसा वह 1974 में या ऐमर्जेंसी के दौर में था। अपने को दोहराना अवरोध को मज़बूत करना होगा।

इस राजनैतिक हलचल के अलावा एक और महत्वपूर्ण कारण इस अवरोध का है। वह यह कि शासक वर्गों ने सांस्कृतिक उभार को कुंद करने और अपना विचारधारात्मक आधार मज़बूत करने के लिए प्रचार

माध्यमों और सांस्कृतिक विभागों के द्वारा बहुत ही सधा हुआ हस्तक्षेप किया है। इसके लिए टी वी जैसा माध्यम सबसे ज़्यादा कारगर सिद्ध हुआ। इसके अलावा सभी राज्यों के सांस्कृतिक विभागों द्वारा लेखकों को खरीदने के प्रयास भी हुए, इनमें से मध्य प्रदेश के सांस्कृतिक विभाग ने सीधा प्रहार इस जनवादी उभार पर ही किया। जहां एक ओर किताबें खरीदकर और 'फूट डालो राज करो' की नीति अपनाकर इस आंदोलन को नुकसान पहुंचाया वहीं हमारे कई बुजुर्ग रचनाकारों को और अनेक सशक्त रचनाकारों को ऊंचे पद देकर उन्हें इस आंदोलन के खिलाफ़ इस्तेमाल करने की साजिश रची। हमारे कई रचनाकार शिकारी के जाल में फंस गये और इससे भी आंदोलन को धक्का लगा।

इसी तरह कागज़ की अपार मूल्यवृद्धि ने भी अपना रोल अदा किया। यहां तक कि व्यवस्था के पक्षधर लेखकों ने भी महसूस किया कि यह मूल्यवृद्धि रचनाकर्म पर घ्वंसात्मक असर डाल रही है। टी वी ने जहां रचनाओं के पाठक समुदाय को छपे हुए अक्षर के प्रति ही उदासीन बना दिया है, वहीं प्रकाशन के लिए रचनाकारों को सरकारी खरीद का मोहताज बना दिया है। पूंजीवादी समाज का नियम है कि माल का उत्पादन भी तभी होगा जब उसके लिए बाज़ार होगा। सत्तरोत्तरी बरसों में ग्राहक थे, माल भी बन रहा था, मगर अब ग्राहक भी नहीं और माल बनाना भी आसान नहीं। आज एक पत्रिका निकालना फूस की झोपड़ी में आग से खेलना है। पुस्तक छपाना और भी कष्टसाध्य।

इन वस्तुगत कारणों के अतिरिक्त हमारे जनवादी साहित्य आंदोलन के अपने आत्मगत कारण भी हैं। साहित्य में जनवादी आंदोलन को सबसे अधिक नुकसान दृष्टि की संकीर्णता ने पहुंचाया। हमने जनवाद को फिक्सड कैटेगरी की तरह इस्तेमाल किया और बहुतों ने तो उसे मार्क्सवाद का पर्याय बना लिया, बहुतों ने उसे व्यवस्थाविरोध तक सीमित कर लिया। यही वजह है कि एक खास तरह की रचनाओं का दर्दा बन गया और उन सीमाओं को तोड़ने की कोशिश नहीं की गयी जिनसे नुकसान हो रहा था। जिधर तोप का मुंह था, वहां से वक़्त कहीं और आगे बढ़ गया और फिर तेज़ी से बदलता यथार्थ रचनाकारों की पकड़ से बाहर हो गया। ऐसे में कुछ रचनाकार तो अपने आसपास के परिदृश्य और प्रकृति के उपादानों जैसे पेड़, चिड़िया आदि का सहारा लेकर रचना कर्म में लगे रहे, मगर बहुत बड़े हिस्से

का लिखना बंद हो गया। कविता और कहानी में पिछले दिनों जो बदलाव आया, वह इसी प्रकार का था। यह नयी रचना प्रक्रिया दस पंद्रह साल पहले की प्रक्रिया से भिन्न है, इसी लिए अलग है। हमारे आलोचकों ने इसे समझा नहीं। कुछ एक ने इसे कलावाद का उदय कह कर खारिज कर दिया, कुछ स्तब्ध हो कर अखबारनवीसी करने लगे। लेखकों का एक हिस्सा साहित्यिक सरोकारों से दूर जाने लगा और नये-नये क्षेत्र तलाश करने लगा। ज़रूरत इस बात की थी कि नयी चुनौतियों को स्वीकार करके परिस्थितियों से मुठभेड़ की जाती, हुआ यह कि पलायन में सुकून मिलने लगा, मैदान छोड़कर भागने में सुख महसूस हुआ। इधर जो रचनाएं आ रही हैं, उनसे डायलाग की स्थिति नहीं बनी। वह व्यापक उद्देश्य जिसके लिए लेखक संगठित हुए थे या तो भुला दिया गया या परिस्थिति के पैरों के नीचे आकर दम तोड़ गया। बदलते यथार्थ की गहरी छानबीन करने की हिम्मत टूट गयी और इसीलिए परिस्थितियों के खिलाफ जो बेचैनी होनी चाहिए थी, वह नहीं हुई। अस्मिता बनाये रखने के लिए शार्टकट ढूंढ लिये गये, अखबारी लेखन इसी की एक मिसाल है। आज, विष्णु नागर या गिरिराज किशोर या मृणाल पांडे भी साहित्य की समस्याओं से न टकराकर अखबारी लेखन पर उतर आये हैं, ऐसे अनेक उदाहरण हैं ऊपर बताये गये वस्तुगत कारण ऐसे थे जो किसी रचनाकार को बेचैन कर सकते थे, वह उसी बेचैनी को रचना में दे सकते थे, मगर ऐसा नहीं हुआ। न हमारी कविता ने और न कहानी ने देश की एकता और अखंडता को खंडित करने वाली सक्रिय शक्तियों के खतरे को इधर अभिव्यक्त किया और न ही हमारी मानसिकता में घुसी सांप्रदायिक भावना को अपना कथ्य बनाया। टेलीविजन के प्रभाव और शासक वर्गों द्वारा अपने हित में किये जाने वाले इस्तेमाल को लेकर पंकज विष्ट ने एक अच्छी कहानी ज़रूर लिखी, इसी तरह रेडियो के इस्तेमाल को लेकर नरेंद्र जैन ने एक कविता लिखी थी, मगर हमारा ज़्यादातर लेखन इन समस्याओं से दो चार हुआ ही नहीं, वह सन 1974 से आगे खिसकने के लिस तैयार नहीं, नतीजा यह हुआ कि कलम या तो बंद हो गयी, या अपने को ही दोहराने लगी। ये हैं कुछ आत्मगत कारण जिनसे उबरने के लिए भयंकर आत्मसंघर्ष की ज़रूरत है।

हमारे शासक वर्गों की विचारधारा और साम्राज्यवादी संस्कृति का

वर्चस्व हमारी चेतना पर धीरे धीरे हो रहा है, इससे यह अब लड़ाई आसान नहीं रह गयी। 'अन्याय जिधर है उधर शक्ति'। आपके गर्जन तर्जन से कोई फर्क पड़ने वाला नहीं। वे लगातार यह महसूस करवा रहे हैं कि आपके प्रयास अर्थहीन हैं, निष्प्रयोजन हैं। अवाम की चेतना पर कब्ज़ा इस समय उनका है, उनके हथकंडे कामयाब हो रहे हैं। इसकी वजह यह है कि इस हमले से निपटने की तैयारी हमने भी नहीं की। जो विचारात्मक तैयारी होनी चाहिए थी, वह पूरे दौर में नहीं हो पायी। धर्म, संप्रदाय आदि के द्वारा जनता को इतनी आसानी से बांटा जा सकता है इसका एहसास हमें नहीं था। जनता फिर से जनवादी आंदोलन की ओर तभी मुड़ेगी, जब रोज़ी रोटी का सवाल उनके सामने होगा। तब फिर जातपात और धर्म, संप्रदाय के सवालों को भूलकर मैदान में उतरेंगे। ऐसी नयी लहर समाज में फिर आयेगी और वह वक्त पूरे जनवादी आंदोलन और साहित्य के फलने फूलने का होगा। मगर तब तो हवा अनुकूल होगी, हर कोई आगे आयेगा। असली परीक्षा की घड़ी तो आज है। आज ही तो यह देखना है कि कितने लोगों को मुक्तिबोध की ये पंक्तियां याद हैं कि 'संक्रमणकाल है धैर्य धरो ईमान न जाने दो।' सच पूछो तो हमारे लेखकों को आज लगातार मिलजुल कर काम करने की पहले से कहीं ज़्यादा ज़रूरत है, तभी वे अपने इम्तिहान में कामयाब हो सकेंगे। वस्तुगत परिस्थितियों के गुलाम बने रहने में आसानी तो हो सकती है, मगर कर्मठता भी मारी जा सकती है। अतः आज जागरूक लेखकों से यह उम्मीद की जा सकती है कि वे मिलजुल कर आत्मगत कारणों पर भी विजय हासिल करें। क्या वस्तुगत परिस्थितियां हमसे और अधिक आत्मगत हस्तक्षेप की मांग नहीं करतीं ? आइए, हम दृढ़ प्रतिज्ञ बनें और सांस्कृतिक संकट की इसी घड़ी में हम फिर से दुगुने उत्साह से अपनी रचनात्मक और सांगठनिक गतिविधियां शुरू करें, नयी कल्पनाशक्ति और नये रचनात्मक प्रयासों के साथ हम जहां रुके, वहां से आगे बढ़ें।

(रचनाकाल : 1986)

शेष पुस्तक पढ़ने के लिए एक प्रति खरीदें या लाइब्रेरी में मंगाये

---प्रकाशक